प्रकाशक :
"गांधी दुनिया प्रकाशन"
हिन्दुस्तानी हिन्दी सभा,
मुकर्रम जाही रोड, हैदराबाद.
(आंध्र प्रदेश)

प्रथम संस्करण
१९६०

मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
श्री लक्ष्मी आर्ट प्रेस,
गोलीगुडा रोड, हैदराबाद.

आशीर्वाद



लखनऊ,
सितम्बर २६, १९५८.

श्री वैंकटराव काशी विद्यापीठ के शास्त्री हैं। विद्यापीठ में अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद यह कई सालों तक कांग्रेस के कामों में लगे रहे। जिन दिनों यह विद्यापीठ में पढ़ते थे मैंने इनकी अभिरुचि उर्दू की ओर देखी थी। यह बात कुछ स्वाभाविक भी थी क्योंकि इनका जन्मस्थान आन्ध्र प्रदेश के उस भाग में है जिस पर विलीन हैदराबाद राज्य की उर्दू-पोषक नीति का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी लिखी भर्तृहरि शतक के वैराग्य कांड की टीका को देख कर मुझको कुछ आश्चर्य हुआ और उसके साथ ही प्रसन्नता भी हुई। पुस्तक के अवलोकन से प्रतीत होता है कि वैंकटराव जी ने संस्कृत का भी अच्छा अध्ययन किया है। भर्तृहरि की इस अपूर्व रचना पर कई टीकाएं हैं परन्तु वैंकटराव जी ने श्लोकों के मर्म में प्रवेश करने का जो यत्न किया है उसके फलस्वरूप वह कई जगह कवि के विचारों की गहराई को दिखलाने में बहुत ही प्रशंसनीय सफलता पाने में समर्थ हुए हैं। उनके दिये हुए कई अर्थ मौलिक और विचारोत्पादक हैं। मैं इस कृति पर उनको बधाई देता हूं।

सम्पूर्णानन्द
सम्पूर्णानन्द

सौहार्द

हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी विश्वविद्यालय
वाराणसी

४.१०.६८

श्री वेंकटरमन जी यद्यपि तेलुगुभाषी हैं तथापि उनका हिंदी भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार है। इन्होंने भर्तृहरि के नीतिशतक की सरल हिंदी व्याख्या प्रस्तुत की है। प्रत्येक श्लोक का पद-विच्छेद करके शब्दार्थ दिए गए हैं फिर उनका भावार्थ लिख दिया गया है और अंत में श्लोक का मर्म समझाया गया है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण और समझाने की शैली आकर्षक है। नई पीढ़ियों के इन श्लोकों का विशेष उपयोग किया जा सकता है, इस बात को भी अच्छी तरह समझाया गया है। इस सुंदर व्याख्या के लिये श्री वेंकटरमन जी अत्यधिक बधाई के पात्र हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रस्तावना

भारतवर्ष में "शतक" काव्य की रचना का संप्रदाय बहुत प्राचीन कालसे है। यह कब प्रारंभ हुआ, इसका कालनिर्णय अशक्य है। शतक की रचना करने वाला पहिला कवि कौन था, यह बताना भी कठिन है। कालिदासने मेघदूत (मेघसंदेश) लिखा। उसका मूल वाल्मीकि रामायण के किष्किंधा और सुंदर कांड का कथा-भाग है। मेघदूत के अनंतर पवनदूत, भ्रमरदूत, हंसदूत, मनोदूत, इत्यादि परम सुंदर और माननीय काव्य निर्माण हुए। यह सारे मेघदूत ही के नमूने पर लिखे गये हैं। इन माननीय कवियों ने एक दूसरे से बढ चढ कर अपनी प्रतिभा व्यक्त की है। इस प्रकार मेघदूत जैसा कोई आदर्शभूत ग्रंथ शतक काव्य के निर्माण के लिये नहीं मिलता है। तब भी यह कहना बेजा न होगा कि जिस प्रकार दूत काव्य के लिये मूल आधार वाल्मीकि रामायण है उसी प्रकार भारतांतर्गत विदुरनीति, शुक्रनीति 'चाणक्यनीति' इत्यादि रचनाएँ शतक के आदर्श हो सकते हैं। 'शतक' संख्या के लिए तो आदर्श वैदिक "रुद्रस्वाहाकार" हो सकता है। यजुर्वेद के चौथे अष्टक में रुद्राध्याय है। उनमें 'रुद्र-स्वाहाकार' करने का संप्रदाय प्राचीन कालसे प्रचलित है। इन मंत्रों का विभाग किस प्रकार किया जाय और आहुतियां कैसे दिये जायें, इसका पूर्ण विधान "शतरुद्रीयं जुहोति तिलाग्वा" इत्यादि कल्पसूत्र में हैं। यह सूत्र, उन पर भाष्य, और इस विचार पर दूसरे प्रामाणिक ग्रंथ इत्यादि का परिशीलन करने से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ "शत" का अर्थ एक सौ की संख्या नहीं किंतु "शत" का अर्थ अनेक है। संस्कृत भाषा में "शत" का प्रयोग "अनेक" के अर्थ में हुआ है। "शतवल्शं विराहे सहस्रवल्शाः" यजुर्वेद I-१-१-२ "शतं जीव शरदो वर्धमानः" इत्यादि मंत्रों में शत का अर्थ अनेक है। वैदिक प्रयोग ही नहीं, व्यवहार में भी इसी प्रकार "शत" का उपयोग किया गया है। शतपत्र=कमल, शताक्षी=रात, शतांग=युद्ध में काम आने वाली

गाडी, शतानीक = बूढ़ा आदमी, इत्यादि जहाँ संख्या का संबंध भी न हो वहां भी शत का उपयोग हुआ है। शतरूपा = मनु की माता का नाम है। "शतरुद्रीयं जुहोति" इस नियत विधिमे किये जाने वाले "रुद्रस्वाहाकार" में भी एक सौ से अधिक आहुतियां दी जाती हैं। इसी प्रकार बहुतसे उपदेश प्रद वाक्यों का संग्रह किया जावे तो उनका शतक बन सकता है। प्रायशः शतक में १०८ उपदेश प्रद श्लोक होते हैं। १०८ की संख्या वैदिक और तांत्रिक वाङ्मय में बहुत पवित्र मानी गयी है। ऐसे भी शतक हैं जिनमें श्लोक संख्या इससे भी बढ़ गयी है। इसी प्रकार "सहस्त्र" शब्द का अर्थ भी "अनेक" है। "उपदेश सहस्त्री" एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसमें उपदेश सहस्त्र से अधिक हैं। पूर्वमीमांसा शास्त्र को सहस्त्राधिकरणी कहते हैं। परंतु उसमें अधिकरणों की संख्या ९०० से कुछ अधिक है, पूरे सहस्त्र नहीं हैं।

उपलब्ध शतक ग्रंथों के देखने से यह स्पष्ट होता है कि "शतक" काव्य की रचना दो विभिन्न प्रकारसे होती है;—

१– जब संसार में ऐसी प्रबल प्रतिकूल परिस्थिति हो कि कवि हर तरह से मजबूर हो जाए और अपने स्वतंत्र विचार निर्बेदपूर्ण अवस्था में दूसरों को मार्ग दर्शक होकर प्रकट करे।

२– केवल भक्ति परवश हो कर भाव-प्रधान विचार उपास्य देवता की आराधना की पद्धति को व्यक्त करे।

भर्तृहरि, भल्लुट, इत्यादि प्रथम श्रेणी के ग्रंथ हैं। बाण का चंडीशास्त्र, मयूर का सूर्य शतक, आनंद वर्धन का देवी शतक अपय्या दीक्षित का वरदराज शतक दूसरे श्रेणी में आते हैं। अमरु शतक और बिल्हण की चोरपंचाशिका इत्यादि क्रमःदार्द-भूत हैं। यह केवल श्रृंगार-रस-पूर्ण हैं। संस्कृत में और भी शतक सर्वोत्तम और रसपूर्ण हैं। प्राकृत कवियों ने भी इस का अनुकरण किया है। आंध्र भाषा में लग भग ८०० शतक उपलब्ध हैं।

हमारे देशीय इतिहास परम्परा से यह विदित होता है कि भर्तृहरि उज्जयिनी में मालव देश के प्रसिद्ध राजा थे। महर्षि जैमिनि के पूर्वमीमांसा सूत्रों पर शबर स्वामी ने विस्तृत भाष्य लिखा है। शबर स्वामी की चार धर्म पत्नियां चार विभिन्न जाति की थीं। उन में से क्षत्रियाणी पत्नी के गर्भ से दो पुत्र हुए–एक भर्तृहरि और दूसरे विक्रमादित्य। भर्तृहरि सकल शास्त्रज्ञ, विशेषतया

व्याकरण में पारंगत थे । इन्हों ने त्रिपदी दीपिका, वाक्यपदीय, इत्यादि उद्ग्रंथ लिखे हैं । भर्तृहरि बडे विलासी और पराक्रमी राजा थे । इन्हों ने स्त्री मुख को तुच्छ मान वैराग्य धारण किया और राज्य का परित्याग किया । काव्य में उनके तीन शतक प्रसिद्ध हैं- नीति, शृंगार तथा वैराग्य । नीति शतक के दूसरे श्लोक में उन्हों ने संसार क्यों त्याग दिया और वैराग्य क्यों धारण किया, इसका वर्णन किया है—

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ।।

'मैं जिस पर अत्यंत प्रेम करता हूं वह रानी पिंगला मुझ को नहीं चाहती, वह जिस युवक से प्रेम करती है वह तो दूसरी ही वेश्या पर मरता है और वह वेश्या भी मुझ से प्रेम करती है । इस लिए धिक्कार है रानी पिंगला को, उस युवक को, कामोद्दीपक मन्मथ को, उस वेश्या को और मझ को भी!'

याद रहे कि भर्तृहरि का शृंगार शतक अमरुक शतक के जैसा नहीं है, क्योंकि यह आगे लिखे जानेवाले वैराग्य शतक की पूर्व पीठिका है ।

पाश्चात्य विद्वान् इतिहास शास्त्रज्ञ भर्तृहरि नाम के दो भिन्न व्यक्ति मानते हैं । चीन प्रवासी L. Tsung के डायरियों के आधार पर वे यह निर्धारित करते हैं कि वाक्यपदीयकर्ता भर्तृहरि बौद्ध था । काशिका ग्रन्थ की रचना वासन और जयादित्य वोनों ने मिल कर की है । जयादित्य ही भर्तृहरि था । वह ई. स. ६५ में परलोकवासी हुआ । यह भी कहा जाता है कि भर्तृहरि के बौद्ध होने के कारण वाक्यपदीय का अध्ययन वैदिक लोग नहीं करते हैं । यह आक्षेप तो निर्मूल है । महा पंडित भाष्यप्रदीपकार आचार्य कय्यट "हरि बद्धेन सेतुना" ऐसा स्पष्ट उल्लेख करते हैं । कहते हैं कि व्याकरण महाभाष्य के समुद्र को भर्तृहरि के बाँधे हुए सेतु के सहारे से तर कर जा रहा हूँ । यही नहीं, व्याकरण का तात्विकभाव (Philosoply of Grammer) इस वाक्यपदीय पर आधारभूत है । शतकत्रयकर्ता भर्तृहरि के विषय में कहा जाता है कि वह दूसरा था और वह शैव साम्प्रदाय का था । पाश्चात्य शिक्षा संस्कार से संस्कृत हमारे भारतीय महा पंडित भी दबी ज़बान में यही कहते हैं । वाक्यपदीय के मंगल

श्लोक का अर्थ स्पष्ट बताता है कि भर्तृहरि बौद्ध नहीं थे । यह तो नीति शतक के मंगल श्लोक का ही अनुवाद है । अद्यापि उज्जयिनि में एक स्थान भर्तृहरि-गुफा के नाम से प्रसिद्ध है । वहाँ एक धूनी है और एक चिमटा भी रखा है । वह इतना भारी है कि एक हाथ से उठाया नही जा सकता । भर्तृहरि के वैराग्य-शतक में "अहौ वा हरे वा" श्लोक पठित है । महा कवि क्षेमेन्द्र के 'औचित्य-विचार चर्चा' में यह श्लोक उद्धृत है और यह लिखा गया है कि 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन के मूल सूत्रकार श्रीमदुत्पलदेव का यह श्लोक है । उत्पल देव प्रसिद्ध अभिनव गुप्त पादाचार्य के परम गुरु थे । इसी प्रकार "तपो न तप्तं" यह श्लोक परिव्राजक कवि का है जो वैराग्य शतक में पठित है । नीति शतक में "भवंति नम्रास्तरवः फलागमे" शाकुतल के पांचवें अंक का श्लोक है ।

भर्तृहरि की काव्य रचना के सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है । शतकत्रय की लोक प्रियता ही इसका निदर्शक है । भारत की प्रत्येक प्रांतीय भाषा में इनके गद्यपद्यात्मक अनुवाद प्रसिद्ध हैं । यही नहीं, यूरोपीय अनेक भाषाओं में भी इनके भाषांतर और ऊहा पोहात्मक लेख प्रकाशित हुए हैं । इन शतकों पर अनेक स्वतंत्र विचारपूर्ण विमर्शात्मक लेख नित नये अभी लिखे जा रहे हैं । यह ही भर्तृहरि की असाधारण बुद्धिमत्ता, अलौकिक ज्ञान, वैराग्य सम्पत्ति, सहृदय हृदयाकर्षक पद रचना माधुरी, इत्यादि अनेक सद्गुणों के निदर्शक हैं । मथुरा निवासी बाबू हरिदास वैद्य ने इन शतकों को संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी में श्लोक, पद्यों और विस्तृत विमर्शपूर्ण विवेचना के साथ और उपयुक्त सुन्दर चित्रों के साथ प्रकाशित किया है । हरेक शतक लगभग पाँच सौ पत्रों का सुन्दर ग्रन्थ है । इससे भर्तृहरि के लिए विद्वान् और सर्व साधारण का कितना आदर है, यह अच्छी तरह व्यक्त होता है ।

मेरे परम पूज्य मित्र आर. वेंकटरावजी ने वैराग्य शतक पर एक व्याख्या लिखी है । इसमें हर एक श्लोक के नीचे पदच्छेद, प्रत्येक पद का स्पष्ट अर्थ, वाक्यार्थ और श्लोक का पूर्ण भावार्थ सविस्तर दिया है। संस्कृत भाषा न जानने वालों पर राव साहब ने इस प्रकार व्याख्या लिख कर बहुत बडा उपकार किया है । इसके सिवा संस्कृत भाषा जो लोग अच्छी तरह जानते हैं उन पर भी राव साहब ने बहुत बडा उपकार किया है । इन्होंने हर एक श्लोक का विशेषार्थ बहुत विस्तार के साथ दिया है । वह इतना सुन्दर और अमूल्य विचार-रत्नों से भरा हुआ है कि उससे बडे पण्डितों और स्वतंत्र बिचार करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों को भी अभूतपूर्व और पूर्ण शान्तिप्रद विचारों की

स्फूर्ति होती है। आधुनिक प्रतिक्षण रूपान्तर पानेवाले परिस्थिति का सम्पूर्ण चित्र दृग्गोचर होता है। यह विचार राव साहब के स्वानुभाव और नव-नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के आधार पर स्थिर हैं। किसी शास्त्रकार के सिद्धान्तों पर अथवा किसी पौर्वात्य पाश्चात्य माननीय प्रसिद्ध पुरुष के स्वतंत्र अभिप्राय पर अवलम्बित नहीं हैं। स्वानुभव से रावसाहब ने वाणी पर पूरा स्वातंत्र्य प्राप्त कर लिया है। इनके इस ग्रंथ को पढ़कर पूर्ण विचार करने से वाचकगण की मनोवृत्ति तत्काल बदल जाती है और ऐसा मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रतिकूलता को सुधारने के उपाय स्वयं अंतस्थ आत्मा से ही आविर्भूत हो रहे हैं। राव साहबने बहुत कष्ट सहे हैं। उन के परिश्रम की कोई सीमा ही नहीं है। उन्हों ने अपने स्वानुभव को ऐसा व्यक्त किया है कि "एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इस उक्ति के अनुसार पाठक वर्ग को इस के पढ़ने से वर्तमान सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है। राव साहब ने अपने स्वानुभव को यथावत् वस्तूस्वरूप में व्यक्त किया है। यह उनकी अनन्य साधारण रचनाशैली है। मैं अशा करता हूं कि राव साहब इसी प्रकार नीति तथा शृंगार शतकों की भी व्याख्या लिखेंगे।

ता. २५-५-१९५९ ई.
बेला, शालीबंडा,
हैदराबाद.

गुंडेराव हरकारे
विद्याभूषण, वाचस्पति,
भूतपूर्व जिला जज.

अपनी बात

श्री भर्तृहरि का मैं बहुत आभारी हूँ। मेरे जीवन पर उसकी गहरी छाप है। जाने अनजाने सभी भारतवासी कम या अधिक मात्रा में उससे प्रभावित जरूर हैं।

जब मेरी अवस्था १७ वर्ष की थी तब एक सज्जन श्री वेंकट नरसिंहम ने श्री 'भर्तृहरि सुभाषितम्' के बारे में मुझे बताया था और तब से मैं उसे पढना चाहता था। कहीं उसके ग्यारह वर्ष बाद मुझे वह पुस्तक मिली, और मिली तो मेरी जीवन संगिनी ही बन गयी। बिना भर्तृहरि का पाठ किये मैं खाना नहीं खाता था और सोता भी तो उसीका तकिया लगा कर सोता था। दो साल तक यह सिलसिला चलता रहा। देश के स्वतंत्रा-आन्दोलन में जो कूदा तो पुस्तक हाथ से छूट गयी। परन्तु मैं भर्तृहरि से पूरी तरह प्रभावित हो चुका था। अपने सारे रजनीतिक जीवन में उसी के आदर्श पर चलता रहा। सन १९४२ के "भारत छोडो" आन्दोलन में जब मैं रूपोशी में काम कर रहा था तब मुझे फिर सूझा कि भर्तृहरि को साथ रखना चाहिए। पुस्तक के साथ लखनऊ में गिरफ्तार हुआ। लखनऊ से उन्नाव जेल भेज दिया गया तो भर्तृहरि ने भी मेरा साथ दिया। उन्नाव जेल में बहुत सारे छोटे-बडे कांग्रेसी बन्द थे। जेल का प्रबन्ध कठोर था। मुझे तनहाई की सजा मिली। पर वह तनहाई मुझे खाली नहीं, साथ में भर्तृहरि शतक जो थी।

उसी तनहाई में 'भर्तृहरि' पर कुछ लिखने का विचार हुआ। किन्तु किस बूते पर लिखता ? अध्ययन के लिए पुस्तकें नहीं, विचार-विनिमय के लिए संगी साथी नहीं। फिर भी मेरे विचार विचलित न हुए। लिखने का संकल्प लिया। लिखूं कैसे ? न कलम, न कागज। 'सी' क्लास का कैदी पेन्सिल भी नहीं रख सकता था। जेल के अन्दर असुविधाग्रस्त कैदियों की आराध्य देवी 'तिकडम' होती है। मैंने भी उसी तिकडम की शरण ली। डेढ़ इंच की एक कापींग-पेन्सिल मिली। अपनी 'तेलुगु' शतक की बारीक पांतियों के बीच-बीच लिखता गया। पुस्तक समाप्त हुई और पेन्सिल घिस कर केवल आधी इंच रह गयी। उसे जुगत से सम्हाल रखा था, क्योंकि वह एक यादगार थी, पर न जाने कहां गिर गया पेन्सिल का वह तनिक-सा टुकडा। मेरी कोई चीज सुरक्षित रहती भी

कैसे ? अगर कोई चीज रह गयी तो उसे एक अजूबा ही मानना चाहिए। 'भर्तृहरि' का मेरा वह मसौदा ऐसा ही है। बाईस वर्ष की 'आवारा गर्दी' की 'अवधूत चर्या' में मैं कहीं घर बना कर नहीं रहा। कभी नहीं जाना कि आज दिन में कहां खाऊंगा, रात में कहाँ सोऊँगा।

देश की आजादी के बाद मेरी यह आजादी भी जाती रही। बहुत चाहा कि पुस्तक से धुंधली-धुंधली पेन्सिल की लकीरों को स्याही से उतार लूं—सो न हो सका। सन १९५७ में पुस्तक को उठा कर पढ़ने की चेष्टा की तो मेरा ही लिखा मेरी ही आँखों से पढ़ा नहीं गया। मेरे मित्र और सहकारी श्री कैलाश-चन्द्र शर्मा हिमालयवासी ने हैदराबाद में दो-दो बार उसकी नकल उतारी और तब पुस्तक इस रूप में सामने आयी। उस मसौदे में से एक पन्ने का ब्लाक जो आगे दिया गया है उसे बनाने के लिए पुरानी धुंधली पेन्सिल की लिखाई पर फिर से काली पेन्सिल का हाथ फेरना पड़ा।

हिन्दुस्तान में हैदराबाद का कालापानी कहाने वाला अमराबाद मेरा जन्म-स्थान। भीलों की बस्तियों के बीच बढ़ा और कुछ पढ़ा नहीं। फिर भी दक्षिण में पूर्वी घाट में पैदा हो कर उत्तर में हिमालय पर पहुंचा। बीच के प्रायः सभी नेता और महात्माओं के साथ रहा, काम किया। जेलों के अन्दर मुझे आदर और आराम ही मिला है। अगर नहीं मिला तो केवल उन्नाव जेल में। परन्तु मैंने भर्तृहरि की यह टीका उसी जेल में लिखी है। इस प्रकार मेरे जीवन में जो स्थान सब से खराब रहा वही मेरे लिए सबसे श्रेष्ट स्थान सिद्ध हुआ है; और यही है जीवन की असली परिभाषा !

भाषा की बात आ गयी। मेरी मातृ-भाषा 'तेलुगु' है। संस्कृत का मैं कोई ज्ञाता नहीं। टूटी-फूटी हिन्दी हिन्दुस्तान की आजादी के आन्दोलन ने मुझे सिखा दी। सन् १९३० और १९३२ के दो आन्दोलनों के बीच दो बार करके श्री काशी विद्यापीठ से 'शास्त्री' बन निकला—अर्थात् मैं बना हुआ शास्त्री। ऐसे अकिंचन से जो कुछ बन पड़ा, वही बहुत कुछ है और जो है वह सामने है। शुरू में जब मैं लिखने बैठा तब भी नहीं जानता था कि इस प्रकार की टीका लिख सकूंगा और अब भी यही सोचता हूँ कि कैसे लिख गया। 'सत्य' एक अलौकिक शक्ति है। ऐसा लगता है कि सत्य का सम्बन्ध जो वाणी से है उससे बढ़ कर मन से है, और आचरण से है और अजीवन आचरण से है। जब

चारों ओर अन्धकार हो, सारा वातावरण विपरीत हो, सोचने विचारने पर भी कुछ न सूझे तब भी यह लड़खड़ाते पैर सत्य की डगरी की ओर ही किस प्रकार बढ़ते हैं और कभी राह से बेराह नहीं होते, लाख सिर मारने पर भी कुछ समझ में नहीं आता। प्रस्तुत पुस्तक की भी यही स्थिति है।

पुस्तक के बारे में कुछ न लिखना ठीक नहीं है। मैं तो इस ग्रन्थ राज के सम्बन्ध में तीनों शतकों की समाप्ति के बाद ही लिखना चाहता था। किन्तु जब एक वैराग्य कांड के लिखने के बाद सोलह वर्ष में भी उसे प्रकाशित न कर सका, तब मैं कैसे आशा रखूं कि जीवन की इस अन्तिम अवस्था में नीति तथा श्रृंगार शतकों पर भी लिख कर कभी पुस्तक को पूरा कर सकूंगा। इसलिए सोचा, दो शब्द इस के सम्बन्ध में भी यहीं लिख दूं।

भर्तृहरि की 'त्रिशती' को मैं केवल एक उपदेशात्मक ग्रन्थ नहीं मानता। इसके सर्वमान्य आधार-श्लोक—'याम् चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता' को भी मेरा मन स्वीकार नहीं करता। भर्तृहरि की यह अमर कृति संसार की इनी गिनी सर्व-श्रेष्ट कृतियों में से है। ऐसा उच्च कोटि का साहित्य किसी क्षणिक आवेश का परिणाम नहीं हो सकता। निश्चय ही भर्तृहरि की विचारधारा जीवन भर बनती रही है। ऊपरोक्त घटना भर्तृहरि के लिए सांसारिक विरक्ति का तात्कालिक कारण हो सकता है। और होसकता है उसके बाद ही उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान-भंडार को नीति, श्रृंगार तथा वैराग्य शतकों के रूप में प्रस्तुत किया हो। अस्तु। यह कोई उपदेशात्मक मुक्त-काव्य नहीं है, बल्कि समूचे समाज का 'जीवन-दर्शन' है। भर्तृहरि ने नीति श्रृंगार तथा वैराग्य के रूप में सार्वभौम्य आदर्श—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की व्याख्या की है। यह त्रिकाल-सत्य दर्शन, भले ही समाज का रूप कुछ भी हुआ करे, उस पर ठीक-ठीक चस्पाँ होता रहेगा। संसार जब तक बना रहेगा तब तक इस सार्व-भौमिक ग्रन्थ से समाज को सदा प्रकाश मिलता रहेगा। नैतिकता की जडों से सींच कर यह पेड रंग-बिरंगे फूल पत्तों से सुसज्जित हो सदा-बहार बन कर बरस के बारहों मास बराबर होता रहेगा।

पुस्तक की पांडु लिपि को मैंने प्रकांड विद्वानों को दिखाया। उन्होंने सहानुभूति से उसे सराहा। कुछ साधारण जन को भी पढ़ कर सुनाया। वे समझे और खुश हुए। मैं उन सब का आभार मानता हूँ।

गुरुवर डा. सम्पूर्णानन्द, मुख्य मन्त्री उत्तर प्रदेश के प्रति मूक भाषा में अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करने के अतिरिक्त कुछ लिखना धृष्टता होगी। वास्तविकता यह है कि उनके वात्सल्य पूर्ण आशीर्वाद के कारण ही यह पुस्तक प्रकाश में आ रही है। उन्हीं की सरकार से इसके प्रकाशनार्थ रु. २५००) का अनुदान प्राप्त हुआ, जो पुराना कर्ज पटाने में कभी का खर्च हुआ और नया कर्ज काढ़ काढ़ कर यह छपाई हो रही है। उत्तर-प्रदेश की वर्तमान सरकार के साथ-साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन के सभी नेता, साथी तथा जनता का आभारी हूँ जिनके सम्पर्क से मेरे विचार परिष्कृत होते गये। इसी प्रकार श्री पद्म विभूषण पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी का उनके सौहार्द पूर्ण सम्मति के लिए अत्यन्त आभारी हूँ। प्रकांड विद्वान, दशभाषा विशारद श्रद्धेय श्री गुंडेराव हरकारे ने अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना से पुस्तक की उपयोगिता को बहुत बढ़ाया है। श्री हरकारे ने मुझ अकिंचन के प्रति जो उच्च विचार व्यक्त किए हैं वह उनकी उदार हृदय के परिचायक मात्र हैं। श्री रामन्द्र बुधेन्द्र की तेलुगु लिपि वाली संस्कृत व्याख्या जेल में मेरे साथ थी। उसका कितना अंश मैंने अपनाया है, मैं कह नहीं सकता। तो भी मुझे इस टीका की प्रेरणा उसी संस्कृत व्याख्या से मिली है। श्री कैलाश चन्द्र शर्मा के सम्बन्ध में ऊपर लिख चुका हूँ। फिर एक बार अपने सहकारी शर्मा के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। श्री अध्यात्मनारायण त्रिपाठी आजमगढ़ निवासी (वर्तमान हैदाराबाद में समाजवादी पार्टी के प्रकाशन मंत्री) का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। त्रिपाठी जी ने पुस्तक की हिन्दी प्रूफ को देखा और ठीक किया है। स्वभावतया व्यस्त व्यक्ति होते हुए भी बक्त बे वक्त जब कभी मैं पहुँचा अपना सारा काम छोड़ कर उन्होंने मेरा प्रूफ देखा है। अन्त में श्री लक्ष्मी आर्ट प्रेस के मालिक श्री नारायणराव और उनके कर्मचारी सब के सब अहिन्दी भाषा-भाषी होते हुए भी इस हिन्दी पुस्तक को इस अहिन्दी प्रदेश में इस रूप में प्रस्तुत करने पर जरूर बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक में जो अशुद्धियाँ रह गयी हैं वह मेरी हैं। सहृदय पाठक गण जो सुधार सुझावेंगे अगले संस्करण में ठीक करने की चेष्टा अवश्य की जाएगी।

ता. ११ मार्च १९६० ई. **वेंकट राव रायसम्**

पुस्तक की पांडु लिपि का एक पन्ना

श्री

भर्तृहरिसुभाषिम्

वैराग्य शतकम्

चूडोत्तंसितचन्द्रचारुकलिकाचंचच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतःसद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ॥ १

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहेष्वाशंकया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि ॥ २

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः ।
मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णे संकामा भव ॥ ३

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरैः
निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा ।
कृतो वित्तस्तम्भः प्रतिहतधियामंजलिरपि
त्वमाशे मोघाशे किमपरमतो नर्त्तयसि माम् ॥ ४

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किन्नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम् ।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःसंज्ञमनसां
कृतं मानव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि ॥ ५

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुःसहशीतवाततपनक्लेशो न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शंभोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वंचिताः ॥ ६

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याताः
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥ ७

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनांकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥ ८

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोऽपि गलितः
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ ९

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्य्यद्रुमध्वंसिनी ।
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी
तस्याः पारगताविशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ १०

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ।। ११

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून ।
व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ।। १२

ब्रह्मज्ञानविवेकनिर्मलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुंचंत्युपभोगभांज्यपि धनान्येकांततो निस्पृहाः ।
संप्राप्तान्न पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययो
वांछामात्रपरिग्रहण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ।। १३

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता–
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशंकमंकेशयाः ।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट–
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते ।। १४

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा हा तथापि विषयान् न परित्यजन्ति ।। १५

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ।। १६

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धधारी हरो
नीरागेषु जनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धो जनः
शेषः कामविडंबितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ॥ १७

अजानन् दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् ।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥ १८

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं
क्षुधार्त्तः शाल्यन्नं कवलयति मांसादिकलितम् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥ १९

तुंगं वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः संपदः
कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञानमूढो जनः ।
मत्वा विश्वमनश्वरं निविशते संसारकारागृहे
संदृश्य क्षणभंगुरं तदखिलं धन्यस्तु संन्यस्यति ॥ २०

दीना दीनमुखैस्सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्नविधुरा दृश्या न चेद्गेहिनी ।
याच्ञाभंगभयेन गद्गदगलत्त्रुटद्विलीनाक्षरं
को देहीतिवदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान् ॥ २१

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी
गुरुतरगुणग्रामांभोजस्फुटोज्ज्वलचंद्रिका ।
विपुलविलसल्लज्जावल्लीवितानकुठारिका
जठरपिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम् ॥ २२

पुण्येग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालिं कपालिम्
ह्यादाय न्यायगर्भद्विजहुतहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठे ।
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्त्तो
मानी प्राणैस्सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ।। २३

गंगातरंगकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ।। २४

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः ।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखाप्तस्वल्पवित्तस्मयपवनवशान्नर्तितभ्रूलतानि ।। २५

पुण्यैर्मूलफलैस्तथा प्रणयिनीं वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ठ यावो वनम् ।
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्तव्याधिविकारविह्वलगिरां नामापि न श्रूयते ।। २६

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ।। २७

ये वर्त्तन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्य्याप्तबुद्धेः ।
तेषामन्तः स्फुरितहसितं वासराणि स्मरेयम्
ध्यानच्छेदे शिखरिकुहरग्रावशय्यानिषण्णः ।। २८

ये संतोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो
ये त्वन्ये धनलुब्धसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता ।
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक्पदं संपदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ॥ २९

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिमुखं भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम् ।
सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शंभोः सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसंति योगीश्वराः ॥ ३०

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥ ३१

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढांगनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै–
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥ ३२

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः ।
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्
तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम् ॥ ३३

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमिततनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कांताविश्लेषदुःखव्यतिकरविषमो यौवने चोपभोगाः ।
वामाक्षीणामवज्ञा विहसितवसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्याः वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ॥३४

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम् ।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकास्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥ ३५

भोगास्तुंगतरंगभंगतरलाः प्राणाः क्षणध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखस्फूर्तिः प्रियासुस्थिता ।
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका
लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम् ॥ ३६

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनी चञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताब्जपटली लीनाम्बुवद्भंगुरम् ।
लोलायौवनलालसास्तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतम्
योगे धैर्य्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥ ३७

भोगा भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव-
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः ।
आशापाशशतोपशांतिविशदं चेतः समाधीयताम्
कामोत्पत्तिवशात्स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥ ३८

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमाभोगपूगाः ।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम्
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ३९

ब्रह्मेंद्रादिमरुद्गणास्तृणकणान् यत्रस्थितो मन्यते
यत्स्वादाद्विरसा भवंति विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः ।
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
भो साधो क्षणभंगुरे तदितरे भोगे रतिं मा कृथाः ॥ ४०

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः ।
उद्वृत्ताः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ॥ ४१

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु वहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ।
इत्थं नेयौ रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणिशारैः ॥ ४२

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां उन्मत्तभूतं जगत् ॥ ४३

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधाजन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः ।
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कदर्थिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ ४४

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितम् ।
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिंगितम्
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥ ४५

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः ।
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥ ४६

विद्या नाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितं
शुश्रूषाऽपि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ।
आलोलायतलोचनाः प्रियतमाः स्वप्नेऽपि नालिंगिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते ॥ ४७

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ ४८

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतम्
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥ ४९

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरंगैर्नट इव वलीमंडिततनु–
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ॥ ५०

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नतः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः ।
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥५१

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवं नः ।
सेवन्ते त्वां धनान्धा मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामाः
मय्यप्यास्था न ते चेत् त्वयि मम नितरामेष–
राजन् गतोस्मि ॥ ५२

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
सतु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥ ५३

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयम्
क्षितिरपि शयनार्थं वाससे वल्कलं च ।
नवधनमधुपान भ्रान्तसर्वेंद्रियाणा–
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥ ५४

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि ।
शयीनहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥ ५५

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुंचवः ।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः ॥ ५६

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुंजते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥ ५७

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशतै–
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥ ५८

मृत्पिण्डो जलरेखाया वलयितस्सर्वोऽप्ययं नन्वणु:
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतं राज्ञां गण भुंजते ।
नोदद्युर्ददतेऽथ वा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशं
धिग्धिक् तान्पुरुषाधमान् धनकणम् वांछन्ति तेभ्योऽपि ये ॥५९

स जातः कोप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं
कपालं यस्यौच्चैर्विनिहितमलंकारविधये ।
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नामद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥ ६०

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं बिशसि हृदयक्लेशकलितम् ।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिंतामणिगणो
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ॥ ६१

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा ।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पयन्
न तर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ॥ ६२

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
शान्तंभावमुपैहि संत्यजनिजां कल्लोललोलां गतिम्
मा भूयो भज भंगुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥ ६३

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ
चेतः स्वर्गतरंगिणीतटभुवामासंगमंगीकुरु ।
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च श्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्वर्गेषु च प्रत्ययः ॥ ६४

चेतश्चिन्तय मा रमां सकृदिमामस्थायिनीमास्थया
भूपालभ्रुकुटीविहरणव्यापारपण्यांगनाम् ।
कंथाकंचुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी
रथ्यापंक्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे ॥ ६५

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम् ।
यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लंपटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥ ६६

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किम्
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्पादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम्
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम् ॥ ६७

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥ ६८

तस्मादनंतमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिंतय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य–
भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति ॥ ६९

पातालमाविशसि यासि नभो विलंध्य
दिङ्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृत्तिमेषि येन ॥ ७०

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।
मुक्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ॥ ७१

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राश्शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः ।
धरागच्छन्त्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥ ७२

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
र्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्य्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥ ७३

वर्णं सितं शिरसि वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तथा पुमांसम् ।
आरोपितास्थिशकलम् परिहृत्य यान्ति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ ७४

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ ७५

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीम्
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम् ।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने ॥ ७६

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः ।
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ॥ ७७

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने ।
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥ ७८

रम्याश्चान्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः ॥ ७९

रम्यं हार्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकम्
किं वा प्राणसमागमागमसुखं नैवाधिकप्रीयते ।
किं तु भ्रान्तपतंगपक्षपवनव्यालोलदीपांकुर-
च्छायाचंचलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तंगताः ॥ ८०

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा ।
योऽयं धत्ते विषयकरिणी गाढगूढाभिमान-
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम् ॥ ८१

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्य्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् ।
मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्-
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ८२

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं
हंतांगेषु गुणाश्च वंध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ।
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलं मुक्त्वाऽस्ति नान्या गतिः ।।८३

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदान्तरात्मनि ।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्तु मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ।। ८४

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने
सुखासीनाशान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः ।
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा यास्यामानंदोद्गतबहुलबाष्पाकुलदशाम् ।। ८५

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम् ।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा–
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैकशरणाः ।। ८६

कदा वाराणस्याममरतटिनी रोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ।। ८७

स्नात्वा गांगैःपयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं निवेश्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यंकमूले ।
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ।। ८८

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ।। ८९

पाणिं पात्रयतां निसर्गशुचिना भैक्ष्येण संतुष्यताम्
यत्र क्वापि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम् ।
अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा-
मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम् ।। ९०

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं निरपेक्षभैक्षमशनं निद्रा श्मशाने वने ।
स्वातंत्र्येण निरंकुशं विहरणं स्वान्तं प्रशान्तं सदा
स्थैर्यं योगमहोत्सवेऽपि च यदि त्रैलोक्यराज्येन किम् ।।९१

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः ।
शफरीस्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते ।। ९२

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मास्मभू-
र्भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निस्पृहाणामसि ।
सद्यःस्यूतपलाशपत्रपुटिका पात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षावस्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ।। ९३

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ।
शरच्चन्द्रोदीपो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।। ९४

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनैः संप्राप्तकन्थासनो
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥ ९५

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ।
इत्युत्पन्न विकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै-
र्नक्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥ ९६

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितम्
व्यालानम् पशवस्तृणांकुरभुजस्सृष्टाः स्थलीशायिनः ।
संसारार्णवलंघनक्षमधियाम् वृत्तिः कृता सा नृणाम्
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥ ९७

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्ध पद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वांगमंगे मदीये ॥ ९८

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमपमलम् तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥९९

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जलं
भ्रातर्व्योमनिबद्ध एष भवतामन्त्यः प्रणामांजलिः ।
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतस्फारस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥ १००



श्लोक १

चूडोत्तंसित चन्द्र चारु कलिका चंचच्छिखा भास्वरो
लीला दग्ध विलोल काम शलभः श्रेयो दशाग्रे स्फुरन्
अन्तः स्फूर्जदपार मोह तिमिर प्राग्भार मुच्चाटयन्
चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञान प्रदीपो हरः।

पदच्छेद

चूडोत्तंसित = चूडा + उत्तंसित
चंचच्छिखा = चंचत् + शिखा
श्रेयोदशाग्रे = श्रेयः + दशा + अग्रे
स्फूर्जदपार = स्फूर्जत् + अपार
प्राग्भार मुच्चाटयन = प्राक् + भारम् + उच्चाटयन्

पदान्वय

चूडा उत्तंसित चंद्र चारु कलिका चंचत् शिखा भास्वरः विलोल काम शलभः लीलादग्धः, श्रेयः दशा अग्रे स्फुरन् अंतः स्फूजत् अपार मोह तिमिर प्राक् भारम् उच्चाटयन् ज्ञान प्रदीपः हरः योगिनाम चेतः सद्मनि विजयते।

शब्दार्थ

	(जो शंकर भगवान)	दशा	= अवस्थाओं में
चूडा	= जटाओं में	अग्रे	= आगे ही
उत्तंसित	= लपेटे हुए, लगाये हुए	स्फुरन्	= छटा दिखाते हुए
चन्द्र	= चन्द्रमा के	अन्तः	= अंतःकरण के भीतर
चारु	= सुन्दर	स्फूर्जत्	= फैले हुए
कलिका	= कलारूपी	अपार	= अथाह
चंचत्	= चंचल	मोह तिमिर	= अज्ञान रूपी अंधकार के
शिखा	= लौ से	प्राक् भारम्	= समूह को
भास्वरः	= प्रकाशमान रहते हैं, (जिन्होंने)	उच्चाटयन्	= निकल भागते हुए
		ज्ञान प्रदीपः	= ज्ञान रूपी ज्योति बनकर
विलोल	= चंचल		
काम शलभः	= काम रूपी पतिंगों को	हरः	= सब पापों को हरनेवाले शंकर भगवान
लीला	= सहज ही से		
दग्धः	= जला डाला है, भस्म कर डाला है (और जो)	योगिनाम	= योगियों के
		चेतः सद्मनि	= मन मंदिर में
		विजयते	= विराजते हैं
श्रेयः	= शुभ		

भावार्थ

जिस शंकर भगवान ने अपनी जटाओं में चन्द्रमा को आभूषण के रूप में धारण कर रखा है, जिन्होंने विचार मात्र से कामदेव को भस्म कर डाला है और जो मानव के मन में बसे हुए मोह रूपी अंधकार को पटा-पंचल करने में समर्थ हैं, ऐसे महादेव भगवान शंकर योगी जनों के मन-मन्दिर में सदा विराजमान रहते हैं।

विशेषार्थ

शंकर भगवान वैराग्य के साक्षात् अवतार हैं। इसीलिए भर्तृहरि नें वैराग्य के लिए शंकर भगवान को आदर्श माना है। शंकर की उपमा ज्योति से दी गयी है। शंकर भगवान के मस्तक पर जो चन्द्रमा है वही उस ज्योति की लौ है। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक से पहले श्रृंगार शतक लिखी है। इसलिए इस श्लोक में चन्द्रमा की सुन्दरता का वर्णन है। पर यहाँ तो श्रृंगार से निकल

कर वैराग्य में प्रवेश करना है। विचार एक दम बदलते हैं। चन्द्रमा को विचारों का उद्गम माना गया है। विचारों के परिष्कृत होने पर ही मनुष्य वैराग्य के जटिल मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और तभी उसका उत्थान हो सकता है। इसलिए शंकर के मस्तक पर चन्द्रमा अब श्रृंगार के लिए नहीं बल्कि विचार के लिए है।

अब ज्योति को लीजिए। ज्योति अथवा ज्वाला का काम जलाना है। उसे निगल जाने की नीयत से पतिंगे उस पर टूट पड़ते हैं। ज्वाला उन्हें जला कर भस्म कर देती है। शंकर भगवान ने तो कामदेव को भस्म कर डाला था। इसमें दो बातें हैं। एक ओर पतिंगों का दल है, दूसरी ओर अग्नि की ज्वाला या दीपक जलाने वाली वस्तु है। उसे पतिंगे खाने की वस्तु समझते हैं और जलकर मर जाते हैं। दीपक को भी पतिंगों की ओर से खतरा है। पतिंगों के झपेट में कभी-कभी दीपक बुझ भी जाता है।

मानव के मन में दोनों गुण हैं। उसमें विषय-वासना का अंधकार भी है और वासनाओं को भस्मीभूत करने की ज्वाला भी है। मनुष्य आग के समान पवित्र बन जाने पर ही कामनाओं पर काबू पा सकता है, नहीं तो वह स्वयं नष्ट हो जाएगा। वैराग्य की ओर बढ़नेवाले व्यक्ति को सबसे पहले कामनाओं पर काबू पा लेना होता है। तब ही उसमें वह ज्योति जग उठेगी। जहाँ ज्योति जगी वहाँ अंधकार आप ही मिटने लगेगा। यही प्रकाश धीरे-धीरे सारे अन्तःकरण के भीतर व्यापने लगेगा और अज्ञान रूपी अंधकार को जड़मूल से नष्ट कर देगा।

ज्योति या दिया तो मकान या मन्दिर के भीतर जला करता है। यह ज्ञान की ज्योति योगियों के मन में प्रकाशमान रहती है। इस तरह योगी का मन मन्दिर बन गया, क्योंकि अब वह भगवान का स्थान बना। इस प्रकार—शंकर भगवान् सदा योगियों के मन में विराजमान रहते हैं।

यहाँ पर 'योगी' तथा 'हरः' दोनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं। श्रृंगार शतक के भोगी को अब वैराग्य शतक का योगी बनना होगा—ज्ञान योगी। अन्य किसी योग की चर्चा शतक भर में कहीं नहीं है। चाहे कोई योगी हो, उस योगी के हृदय में 'हरः' महादेव वास करते है। 'हरः' का अर्थ है—समस्त पापों को हरनेवाला और सब प्रकार की बाधाओं से मुक्त करनेवाला। साधक अपनी साधना के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त होने पर स्वयं उसके भीतर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है। तब साधक सिद्ध बन जाता है, मानव महादेव हो जाता है, इन्सान ईश्वर हो जाता है।

श्लोक २

भ्रान्तं देश मनेक दुर्ग विषमं प्राप्तं न किंचित्फलं
त्यक्त्वा जाति कुलाभिमान मुचितं सेवाकृता निष्फला
भुक्तं मान विवर्जितं पर गृहेष्वाशंकया काकवत्
तृष्णे जृम्भसि पाप कर्म पिशुने नाद्यापि संतुष्यसि।

पदच्छेद

देशमनेक	=	देशम् + अनेक
कुलभिमान मुचितम्	=	कुल +अभिमानम् + उचितम्
परगृहेष्वाशंकया	=	परगृहेषु + आशंकया
नाद्यापि	=	न + अद्य + अपि

पदान्वय

अनेक दुर्ग विषमम् देशम् भ्रान्तम् किंचित् फलम् न प्राप्तम् उचितम् जाति कुल अभिमानम् त्यक्त्वा निष्फला सेवाकृता मान विवर्जितम् परगृहेषु काकवत् आशंकया भुक्तम् पाप कर्म पिशुने तृष्णे जृम्भसि अद्य अपि न संतुष्यसि

शब्दार्थ

अनेक	=	बहुत से
दुर्ग	=	न चलने योग्य
विषमम्	=	ऊबड़ खाबड़
देशम्	=	स्थान
भ्रान्तम्	=	घूम डाले (किन्तु)
किंचित्	=	कुछ भी
फलम्	=	फल, लाभ
न प्राप्तम्	=	नहीं पाया
उचितम्	=	योग्य
जाति कुल	=	जाति और कुल के
अभिमानम्	=	गौरव को
त्यक्त्वा	=	त्याग कर
निष्फला	=	व्यर्थ की
सेवाकृता	=	सेवा की

मान विवर्जितम्	= स्वाभिमान को पूर्ण-तया छोडकर अर्थात् अपमान के साथ	पापकर्म पिशुने	= पाप कर्मों में लिप्त रहने वाली
पर गृहेषु	= पराये घर में	तृष्णे	= हे! लोभ
काकवत्	= कौए की भांति	जृम्भसि	= बढ़ती ही जा रही है
आशंकया	= डरते, झिझकते	अद्य अपि	= अब भी (तू)
भुक्तम्	= भोजन किया	न संतुष्यसि	= संतुष्ट, तृप्त नहीं होती

भावार्थ

लालच के मारे मैंने अनेकों जंगल, पहाड़, नदी, समुद्र घूम डाले, किन्तु कुछ फल नहीं मिला। स्वाभिमान को छोड़कर दूसरे की चाकरी की, पर उसका भी कोई नतीजा नहीं रहा। घोर अपमान सह कर पराया कौर खाया, तब भी लालच का पेट नहीं भरा। यही लालच सदा मनुष्य को एक से एक बढ़ कर पापकर्म में फंसाता जाता है और बराबर बढ़ता ही जाता है।

विशेषार्थ

तृष्णा अथवा लालच यह वैराग्य की साधना में सबसे बडा बाधक है। जिसकी तृष्णा न मिटे वह वैराग्य को प्राप्त नहीं हो सकता। उल्टे तृष्णा के कारण मनुष्य क्या-क्या बुरे कार्य कर डालते हैं, उसका वर्णन इस शतक के प्रथम दस श्लोकों में है।

लालच के मारे कोई इस चेष्टा में रहता है कि कहीं पड़ा-पड़ाया धन हाथ लग जाए। इस उद्देश्य से वह पहाड़, नदी, समुद्र तथा देश-विदेश की खाक छानता है। इतने कठिन परिश्रम के बाद धन की प्राप्ति नहीं होती, सो मतलब नहीं है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार धन मिल भी जाए तब भी उसका कोई अच्छा फल नहीं होता। उसकी प्यास घटती नहीं बल्कि बढ़ती ही जाती है। जीवन भर तरह-तरह के शारीरिक कष्ट उठाने पर भी मानसिक शान्ति प्राप्त नही होती। साधारण लोग इस प्रकार जोखिम का काम न लेकर नौकरी जैसा सुगम पेशा अपनाते हैं। नौकरी में जोखिम कम होता है और शरीरिक कष्ट भी कम ही होता है। काम भी और वेतन भी निश्चित होना है। पर इसमें स्वाभिमान को अधिक धक्का लगता है। मालिक की मान-मर्यादा के

लिए अपने स्वाभिमान और सिद्धान्तों को तिलांजलि देनी पड़ती है। इससे पहले की अपेक्षा अधिक मानसिक क्लेश होता है। तीसरी श्रेणी के वे लोग हैं जो शरीर को तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहते। वे भीख से पेट भरते हैं। उनकी दशा तो सबसे गयी बीती है। उन्हें अपनी लाज खोकर दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है। फिर भी बैठ कर निश्चिंतता से खा नहीं पाते। उनके हाथ से टुकड़ा कोई छीन ले जाएगा, इसका डर तो नहीं है। किन्तु कंगाल भिखारी की आत्मा इतनी पतित हो जाती है कि वह दूसरों के फेंके-फिकाये टुकड़ों को भी चोर-नज़र कव्वे की भांति डरते-डरते खाता है।

श्लोक की शब्दावलि मे दो बातें स्पष्ट हैं। किसी विशेष उद्देश्य को लेकर पर्यटन तथा परिश्रम करनेवालों, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए योग्य नौकरी करने वालों, या सन्त-महात्माओं या अतिथि अभ्यागतों का तिरस्कार नहीं किया गया है, बल्कि केवल कंगलेपन और नीच सेवा तथा लालचियों की निन्दा की गयी है।

दूसरी बात यह है कि जिन कामों में शारीरिक कष्ट अधिक होता है उनमें स्वाभिमान की रक्षा अधिक होती है। कमाने खाने का मार्ग जितना सरल होता है उतना ही अपमान अधिक सहना पड़ता है। इसलिए सांसारिक सुख के साथ-साथ मानसिक शान्ति की इच्छा रखने वालों को चाहिए कि शारीरिक कष्ट से भागने की चेष्टा न करें। और सबमें ध्यान देने योग्य यह है कि चाहे जितना शारीरिक कष्ट उठावें या मानसिक वेदना सहें, जब तक मनमें तृष्णा है तब तक कष्ट ही कष्ट रहता है। तृष्णा स्वयं पाप कर्मों में फंसाने वाली वस्तु है। तृष्णा तथा पाप में चोली दामन का नाता है। सारांश यह है कि जब तक तृष्णा है तब तक तृप्ति नहीं और जब तक तृप्ति नहीं तब तक सुख या शान्ति नहीं।

श्लोक ३

उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवः
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः
मंत्राराधन तत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराट कोऽपि न मया तृष्णे सकामा भव।

पदच्छेद

गिरेर्धातवः = गिरेः + धातवः
मंत्राराधन = मंत्र + आराधन
वराटकोपि = वराटकः + अपि

पदान्वय

निधि शंकया क्षिति तलम् उत्खातम्, गिरिर्धातवः ध्माता, सरिताम पतिः निस्तीर्णः, नृपतयः यत्नेन संतोषिताः, मंत्र आराधन तत्परेण मनसा श्मशाने निशाः नीताः, मया काण वराटकः अपि न प्राप्तः, तृष्णे सकामा भव।

शब्दार्थ

निधि शंकया	= धन पाजाने की आशा से	संतोषिताः	= संतुष्ट किया गया
क्षिति तलम्	= पृथ्वी के स्तर को	मंत्र आराधन	= मंत्रों के जपने में
उत्खातम्	= खोद डाला गया	तत्पर मनसा	= तल्लीन मन से
गिरेः धातवः	= पहाडी धातुओं को	श्मशाने	= मसान घाटों में
ध्माता	= फूंका गया	निशाः	= रातें
सरिताम पतिः	= नदियों के पति अर्थात् समुद्र को	नीताः	= बितायी गयीं (फिरभी)
निस्तीर्णः	= पार किया गया	मया	= मेरे द्वारा, मुझे
नृपतयः	= नरपतियों यानी राजा महाराजाओं को	काण वराटकः अपि	= फूटी कौडी भी
यत्नेन	= प्रयत्न तथा परिश्रम से	न प्राप्तः	= न मिली
		तृष्णे	= हे लालच !
		सकामा भव	= तेरी ही इच्छा पूरी हो, तेरा भला हो.

भावार्थ

धन गड़ा होगा, इस लालच से मैंने खंडहर खोद डाले। पहाडी धातुओं को गला कर जंगली जडी बूटियों के साथ उसे फूंक कर सोना

बनाने की चेष्टा की। विदेशों में व्यापार कर के मालामाल होने की नीयत से समुद्र पार चला गया। उनके मन पसंद ढंग से चल कर राजाओं को प्रसन्न किया। रातों में मसानघाट पर बैठकर मंत्रों को सिद्ध करने की चेष्टा की। यह सब केवल लालच में फंस कर किया, पर एक फूटी कौडी भी हाथ नहीं लगी।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जो कहा गया था उसी को इसमें अधिक स्पष्ट किया गया है। पिछले श्लोक में साधारण चेष्टा की चर्चा है। इसमें उसी चेष्टा का ब्यौरा है। पिछले में भ्रमण की चर्चा है तो इसमें उस भ्रमण काल में क्या-क्या किया, चाकरी की तो कैसी की, दिन मे भीख माँगता था तो रात में क्या-क्या करता था। मतलब यह है कि कुछ न कुछ करता रहा और अपनी ओर से कोई कसर उठा नहीं रखी।

पिछले दोनों श्लोकों में यह बताया गया है कि मनुष्य धन के लालच में कैसे-कैसे काम करता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या धन कमाने के यही उपाय थे। पृथ्वी के नीचे गड़ा धन पाने, समुद्र पार जाने, चाकरी करने, और भीख मांगने के सिवा पेट भरने के और कोई उपाय थे ही नहीं? अगर थे तो क्या इन कामों में धन प्राप्त नहीं होता था? इनसे कुटुम्ब का निर्वाह नहीं होता था? इस प्रकार की शंकाओं की जरूरत नहीं है। भर्तृहरि ने जिस समाज का चित्र खींचा है यदि उसमें केवल यही धंधे रहे हों तो वह समाज ही कैसा? जहाँ सभी इसी प्रकार के लोग हों तो वहाँ कौन राजा किस प्रजा का, कौन व्यापारी किस चीज का और कौन उसका खरीददार? भीख माँगने वाले हों तो भीख देनेवाला कौन? उस समय भी खेती, उद्योग, व्यापार सब कुछ होता था। वास्तव में वह भी एक समुन्नत समाज ही था। उस समय भी सभी रोजगार धंधे रहे हैं। यहां पर केवल उन लोगों का चित्र खींचा गया है, जिनको लालच तो बहुत भारी है, पर जिनकी तृप्ति कभी नहीं होती। ऐसे लोगों को स्वभावतः किसी साधारण धंधा या रोजगार से सन्तोष नहीं हो सकता। वे परिश्रम नहीं कर सकते। चाहते हैं कि एक दम धन-कुबेर बन जाएँ। इसलिए खंडहरों में, जंगलों में, मंत्र-तंत्र में व्याकुल रह कर मारे-मारे फिरते हैं और अनेकों प्रकार के कष्ट भोगते हैं।

यह भी समझ लेना चाहिए कि जितने सारे कामों की यहां चर्चा की गयी है उन सब कामों को एक ही व्यक्ति करे, यह जरूरी नहीं है। हर मनुष्य अपने-अपने खब्त के अनुसार इनमें से एक या अधिक पचडों में पड़ सकता है। अभिप्राय केवल यह है कि सबका परिणाम एक ही है। कहीं भी तृष्णा नहीं मरती और वेदना बनी की बनी रहती है। कोरा वेदांत छांटने वाले अधिकतर साधु गृहस्थ लोग ऐसे ही होते हैं।

श्लोक ४

खलोल्लापाः सोढा कथमपि तदाराधन परैः
निगृह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा
कृतो वित्तस्तम्भं प्रतिहतधियामञ्जलि रपि
त्वमाशे मोघाशे किम परमतो नर्त्तयसि माम्।

पदच्छेद

खलोल्लापा = खलः + उल्लापा
कथमपि = कथम् + अपि
तदाराधन = तत् + आराधन
निगृह्यान्तर्बाष्पम् = निगृह्य + अंतः + बाष्पम्
हसितमपि = हसितम् + अपि
धियामञ्जलिरपि = धियाम् + अंजलिः + अपि
त्वमाशे = त्वम् + आशे
मोघाशे = मोघ + आशे
किमपरमतः = किम् + अपरम् + अतः

पदान्वय

तत् आराधन परैः खलः उल्लापाः कथम् अपि सोढा अंतः बाष्पम् निगृह्य शून्येन मनसा हसितम् अपि वित्त स्तम्भ प्रतिहत धियाम अंजलिः अपि कृता आशे, मोघ आशे, माम किम अपरम अतः नर्तयसि ?

शब्दार्थ

तत्	= उनको	प्रतिहत	= मारी गयी हुई
आराधन परैः	= प्रसन्न करने में मन लगाकर	धियाम्	= बुद्धिवाले, जिनकी बुद्धि मारी गयी हो (उनको)
खलः	= नीचों की	अंजलिः अपि	= हाथ भी
उल्लापाः	= बुरी भली बातें	कृता	= जोडे
कथम् अपि	= किसी प्रकार	आशे, मोघ आशे	= हे लालच ! व्यर्थ को लालच
सोढा	= सह लीं	माम्	= मुझे
अंतः	= अन्दर ही अन्दर	अतः अपरम	= इससे बढ़कर
बाष्पम्	= आंसुओं को	किम्	= क्यों
निगृह्य	= थाम कर	नर्तयसि	= नचाती है, (मुझ से और क्या नाच नचाएगी ?)
शून्येन मनसा	= कोरे मन से		
हसितम अपि	= हंसा भी		
वित्त	= धन के		
स्तम्भ	= थम जाने से, इकट्ठा होने से		

भावार्थ

धन के लोभ में मैंने जिनकी चाकरी कबूल कर ली उन्हें प्रसन्न रखने के लिए किसी तरह अपने मन को मार कर उनकी असहनीय बातें सहता रहा । अपनी दशा को देख कर रोना आता था, किंतु कहीं वे नाराज़ न हो जाएं, इस डरसे ऊपरी मन से दिखावे की हंसी हंस देता था कि मालिक खुश रहें । उनके सामने हाथ जोड़कर पहरों खड़ा रहता था । धन के कारण उन नीचों की मति मारी गयी थी । इसलिए मेरे इन सब कामों का उन पर कोई प्रभावन पड़ा और मेरी आशा कहीं भी पूरी न हो पायी । हे तृष्णा ! मुझसे और क्या नाच नचाना चाहती है ? सब कुछ तो किया, पर यह आशा है, कि अब भी निराश नहीं होती ।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में शारीरिक कष्टों का वर्णन था। इसमें मानसिक वेदना की चर्चा है। सरल काम समझ कर चाकरी स्वीकार करते हैं। पर इसमें पहाडों, जंगलों के कष्टों से भी अधिक क्लेश होता है। नौकर समझ कर मालिक ऐसी बातें करते हैं कि रोना आता है। पर रो नहीं सकते। उमड़ती रुआई को रोकना ही कठिन होता है, ऊपर से उनकी निकम्मी बातों की प्रशंसा करनी पड़ती है। यह सब करने के वाद हाथ भी जोड़ने पड़ते हैं। पर उनकी मति ही मारी गयी है। वह नहीं समझते कि मैं क्या हूँ ? मेरी क्या योग्यता है ? कैसा काम कर रहा हूँ ? मुझे कैसी वेदना हो रही है ? इसलिए मेरी आवश्यकताओं की ओर वे ध्यान ही नहीं देते।

क्या धनवान सब ऐसे ही होते हैं ? धनवान के साथ एक विशेषण लगा कर इसे स्पष्ट किया गया है। वह धनवान जो नीच होते हैं उन्हीं का ऐसा स्वभाव होता है। आपकी योग्यता की मर्यादा नहीं करते। आपके काम की कद्र नहीं करते। मनुष्यता के नाते आपकी आवश्यकताओं को समझ कर उनको पूरा नहीं करते। यहाँ पर धनीमात्र की निंदा नहीं की गयी है। नीच प्रवृत्ति वाले धनी की बात कही गयी है ! खल का अभिप्राय नीच से है—नीच स्वभाव वाला, नीच कुल का नहीं। जब ऐसे नीच प्रवृत्ति के व्यक्ति के पास धन जुट जाता है तो धन के घमंड में उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। ऐसा लगता है कि उस समय समाज के अन्दर सब लोगों को सब काम करने की स्वतन्त्रता थी। नीच जाति कहलाने वाले भी अपने परिश्रम से धनी हो जाते थे। धन और मान के बढ़ जाने पर अपनी असलियत को भुला देने वालों की मात्र निन्दा की गयी है। ऐसे लोगों को जब आप बीती याद न रहे, तब पर–बीती का उन्हें अनुभव कैसे हो सकता है ?

श्लोक ५

अमीषां प्राणानां तुलित बिसिनी पत्र पयसां
कृते किन्नास्माभि र्विगलित विवेकै र्व्यवसितम्
यदाढ्यानामग्रे द्रविण मद निःसंज्ञ मनसां
कृतं वीत व्रीडैर्निजगुण कथा पातक मपि।

पदच्छेद

किन्नास्माभि := किम् + न + अस्माभि:
विगलित विवेकै: र्व्यवसितम् = विगलित विवेकै: + व्यवसितम्
यदाढयानामग्रे = यत् + आढयानाम् + अग्रे,
पातक मपि = पातकम् + अपि

पदान्वय

विसिनी पत्र पयसाम् तुलित अमीपाम् प्राणानाम हिते
विगलित विवेकै: अस्माभि: किम न व्यवसितम्
यत् द्रविण मद नि:सज्ञ मनसाम् आढयानाम अग्र
वीत व्रीडै: निजगुण कथा पातकम अपि कृतम ।

शब्दार्थ

बिसिनी पत्र	= कमल के पत्तों के		(यहाँ तक कि)
पयसाम्	= पानी से	द्रविण मद	= धन के घमंड से
तुलित	= तुलना किये गये, समान	नि:सज्ञ	= चेतन हीन
		मनसाम	= मन वाले
अमीषाम	= इन	आढयानाम	= सम्पन्न लोगों के
प्राणानाम हिते	= प्राणों के लिए	अग्रे	= आगे
विगलित बिवेकै:	= पूर्णतया विवेक शून्य हुए,	वीत व्रीडै:	= लज्जा त्याग कर
		निजगुण कथा	= अपना गुण गान करने का
अस्माभि:	= हमारे द्वारा		
किम्	= क्या	पातकम अपि	= पाप भी
न व्यवस्तितम्	= नहीं किया गया	कृतम्	= किया गया
यत्	= जो		

भावार्थ

कमल के पत्तों पर तैरने वाले पानी के बूंद के समान हमारे यह प्राण अस्थिर हैं। ऐसे क्षणभंगुर प्राणों के लिए विवेकहीन हो

कर हमने कौन काम नहीं किए। सभी प्रकार के कुकर्म कर डाले। यहां तक कि धन के मद से जिन सम्पन्न लोगो के हृदय एकदम पथराये गये हैं उनके सामने अपने मुंह अपना ही गुणगान करने का पाप भी किया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया था कि प्राय: धनियों के बुद्धि नाममात्र को भी नहीं होती। वह स्वयं सोच समझ कर हमारी योग्यता तथा सेवाओं का विचार करके हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। चूंकि वह नहीं समझते इसलिए अपन ही मुंह से अपने गुणों का बखानकर उनके दिलों को जगा कर दया सहानुभूति पैदा करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा कराने की चेष्टा की गयी है। धनियों की बात एक ओर रहने दें। पहले स्वयं अपने बारे में सोचें। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करना पाप है! क्यों? एक तो इसलिए कि जब आप अपनी प्रशंसा करते हैं तो दूसरे को समझने का अवसर नहीं रहता। इस प्रकारे दूसरों को धोखा दिया जा सकता है। दूसरे, अपने गुण आप गाने में अप्रत्यक्ष रूप से दूसरों की निन्दा होती है। खुले शब्दों में नहीं तो छिपे-छिपे ही इस प्रकार दूसरे का हक मारा जा सकता है और यह पाप है। यह सब हम करते हैं केवल अपने शरीर के लिए और यह शरीर कमल के चिकने पत्तों पर तैरने वाले पानी के बूंद के समान है। किसी क्षण हवा के एक हल्के झोंके से ही उस बूंद का नाम निशान मिट सकता है। उसी प्रकार यह शरीर भी किसी क्षण छूट जा सकता है। ऐसी अस्थाई शरीर के लिए ऐसे घोर कृत्य करना निरी मूर्खता है।

श्लोक ६

क्षान्तं न क्षमया गृहोचित सुखं त्यक्तं न संतोषतः
सोढा दुस्सह शीत वात तपन क्लेशो न तत्पं तपः
ध्यातं वित्त मर्हानिशं नियमित प्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वंचिताः।

पदच्छेद

गृहोचित	=	गृह + उचित
दुस्सह	=	दुः + सह
वित्तमहर्निशम्	=	वित्तम् + अहः + निशम्
यदेव	=	यत् + एव
प्राणैर्न	=	प्राणैः + न
तत्तत्कर्म	=	तत् + तत् + कर्म
यदेव	=	यत् + एव
मुनिभिस्तैस्तैः	=	मुनिभिः + तैः + तैः

पदान्वय

क्षान्तं न क्षमया, गृहोचित सुखम् त्यक्तम् न संतोषतः
दुस्सह शीत वात तपन क्लेशः सोढा, तपः न तप्तम्
अहः निशाम् वित्तम ध्यातम्, नियमित प्राणैः शम्भो पदम् न ध्यातम्
मुनिभिः यत् एव (कृता) तत् तत् कर्म कृतम, किन्तु तैः तैः फलैः वंचिता

शब्दार्थ

क्षान्तं	=	सहन किया (किन्तु)
न क्षमया	=	सहनशीलता के कारण नहीं
गृहोचित	=	घर के योग्य
सुखम्	=	सुख को
त्यक्तम्	=	त्याग दिया (किन्तु)
न संतोषतः	=	संतोष के कारण नहीं
दुस्सह	=	न सहने योग्य, कठिन
शीत	=	जाड़ा
वात	=	हवा
तपन	=	गर्मी (के)
क्लेशः	=	कष्टों को
सोढा	=	सहन किया किन्तु
तपः न तप्तम	=	तपस्या नहीं की
अहः निशम्	=	दिन रात (सदा) =
वित्तम	=	धन को
ध्यातम्	=	ध्यान किया (किन्तु)
नियमित प्राणैः	=	प्राणों का संयम करके

शम्भोः पदम	=	महादेव शम्भू के चरणों का	कृतम	=	किये (किन्तु)
न ध्यातम्	=	ध्यान नहीं किया	तैः तैः	=	उन उन (कार्यों के)
मुनिभिः	=	ऋषि मुनियों द्वारा	फलैः	=	फल से
यत् एव	=	जो जो (कर्म किये गये)	वंचिता	=	वंचित रहा, वह फल प्रप्त नहीं हुआ
तत् तत् कर्म	=	वही, वही कर्म			

भावार्थ

निन्दा, अपमान आदि सह तो लिये, किन्तु अपनी सहन शीलता अथवा क्षमा के कारण नहीं बल्कि इस भय से कि कहीं यजमान अप्रसन्न न हो जाए। उनकी सब बातों को कुढ़ते हुए सहते रहे। घर के सुखों को छोड़ा किन्तु संसार के सुखों से जी भर कर ऐसा नहीं किया। बल्कि वर्तमान सुख से संतोष न करके और भी अधिक सुख-सामग्री को बटोरने के लिए घर छोड देश-विदेश, जंगल-पहाड़ घूमा किये। निर्जन प्रदेशों और मसान घाटों में गरमी सर्दी में कष्ट उठाते रहे। मगर कोई तपस्या के बिचार से नहीं किन्तु भूत प्रेतों को वश में करके धन प्राप्त करने की नीयत से ऐसा करते रहे। रात दिन ध्यान लगाए रहे लेकिन वह किस पर? भगवान पर नहीं बल्कि धन में। ऋषि मुनियों के समान क्षमा, त्याग, तपस्या, ध्यान आदि सभी काम तो किये, किन्तु भावना भिन्न होने के कारण उनके फलों की प्राप्ति न हो सकी।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दूसरों के छिद्र ढूंढ निकालने से हटा कर स्वयं अपनी ओर ध्यान देने की बात कही थी। अपने को मूर्ख बताया था। इसमें उसी का और विस्तार है। जब दुख सहने ही हों, कष्ट उठाने ही हों, रात-दिन मन को किसी पर लगाये ही रहना हो, तो ऐसी वस्तुओं के लिए यह सब करना जिनसे कष्ट और भी बढे मूर्खता नहीं तो क्या है? स्वार्थ से भर जाने के कारण मनुष्य उन-उन कामों को दिल से नहीं करता किन्तु मजबूर

हो कर उसे करना पड़ता है। इसलिए दुखी रहना है। किन्तु भावना के बदलने से उन ही बातों से उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। धन द्वार के छूटने का दुःख उसे नहीं सताता। निन्दा अपमान पर दूसरों की मूर्खता पर हंसता है। धन का ध्यान करने से उसके मिलने पर और प्रायः न मिलने पर भी अनेकों कारणों से मनुष्य दुःखी ही रहता है। पर ईश्वर चिन्तन में लग जाने पर ईश्वर की प्राप्ति हो या न हो उससे मनुष्य को आनन्द की ही प्राप्ति होती है। मनुष्य जो काम करे भावना मात्र के बदलने से परिणाम में भारी अंतर आता है।

इस श्लोक में एक और सुन्दरता है। जिन बातों का पीछे खंडन किया गया है बडी सुन्दरता से उन ही बातों का यहाँ समर्थन किया गया है। अपमान सहने, घर त्यागने और घोर अनुष्ठान की यहाँ निन्दा नहीं की गयी है और साथ ही क्षमा, त्याग, तपस्या तथा भगवत् भजन की श्रेष्ठता गायी गयी है। सांसारिक कीडों को उनके ग्लानिमय जीवन से हटा कर सरल ढंग से स्वर्गीय आसन पर बैठाने की चेष्टा की गयी है और दुख के मूल कारण तृष्णा को जड़ मूल से उखेड़ कर वैराग्य के सुन्दर उपवन में प्रवेश कराया गया है।

श्लोक ७

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः
कालो न यातो वयमेव याता तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।

पदच्छेद

वयमेव = वयम् + एव

पदान्वय

भोगा न भुक्ता वयम् एव भुक्ता, तपः न तप्तम् वयम् एव तप्ताः
कालः न याता वयम् एव याता, तृष्णा न जीर्णा वयम् एव जीर्णाः

शब्दार्थ

भोगा	= भोगों को, विषय सुखों को (हम ने)	तप्ता	= तपे
न भुक्ता	= नहीं भोगा	कालः	= काल, समय
वयम एव	= हम ही	न यातः	= नहीं बीता
भुक्ता	= भुगते (हमने)	वयम् एव	= हम ही
तपः	= तपस्या	याता	= बीत गये
न तप्तम्	= नहीं तपी, नहीं की	तृष्णा	= आशा, लालच
वयम् एव	= हम ही	न जीर्णा	= शिथिल नहीं हुई
		वयम् एव	= हम ही
		जीर्णाः	= शिथिल पड़ गए, बूढे हो गये

भावार्थ

हमने विषयों को नहीं भोगा बल्कि विषयों ने ही हमें खा डालो। हमने कोई तपस्या नहीं की बल्कि अनेकों प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक कष्टों ने हमारे शरीर को जला डाला। समय नहीं कटा बल्कि हम ही कटे। यह सब लालच के कारण ही हुआ। लालच ने हमें जीर्ण शीर्ण और बूढ़ा बना दिया, पर वह स्वयं ज्यों का त्यों जवान बना हुआ है। मरने के दिन आ रहे हैं पर लालच नहीं छूटा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में तपस्वी जीवन का संकेत था। इस पर यह शंका उठ सकती है कि ऋषि-मुनि भावी सुख की आशा से अपने शरीर को कष्ट क्यों देते हैं? कोई कह सकता है कि हमें स्वर्ग नरक से सरोकार नहीं है। मरने के बाद क्या होगा, यह हम नहीं जानते। हम तो यह मानते हैं कि जब तक जीवें सुखी रहें, खूब खावें, पीवें और मौज उड़ावें। इस सुख–सामग्री के जुटाने में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वह किस तपस्या से कम है? इस श्लोक में इसी शंका का उत्तर दिया गया है।

हम विषयों का सुख भोगते हैं, इस प्रकार समझना ही भूल है। विषयों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख से शरीर का ह्रास होता है। दुःख होता है, सुख नहीं। भोजन, विलास, और संभोगआदि से मनुष्य स्थायी आनंद प्राप्त नहीं कर सकता। जितनी देर तक उनका भोग करते रहते हैं तब तक के लिए हमें सुख

जान पड़ता है। वास्तव में उस वस्तु के प्राप्त करने में और बाद में उसे स्थायी बनाए रखने में असमर्थ होने के कारण दुःख ही दुःख होता है। हम विषयों को नहीं भोगते बल्कि विषय ही हमें भोग लेते हैं। क्योंकि जिस वस्तु का निरंतर भोग होता जाए उसे समाप्त हो जाना चाहिए और भोगने वाले की भोग–शक्ति बढ़ती ही जानी चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। किसी भी विषय का भोग करते हुए थोड़ी ही देर में हम अपने को अधिक भोगने के अयोग्य पाते हैं और दिन पर दिन वह शक्ति और भी कम होती जाती है। खाने पीने में और संभोग में सबका अनुभव यही है। स्पष्ट है कि विषय ही हमें भोग डालते हैं। इस प्रकार विषयी मनुष्य सदा मानसिक और शारीरिक क्लेशों का अनुभव करता रहता है। स्वार्थ के लिए कष्ट उठाना तपस्या नहीं है। वह तो जलना है। जैसे सोने को उपलों के बीच में रख कर आग लगा दें तो सोना तप कर स्वच्छ होगा और उपली जलकर राख होगी। मनुष्य तपस्या करता है तो वह सोने के समान तपता है और कुंदन बन कर निकलता है। किन्तु विषयी मनुष्य उपली के समान जलकर राख हो जाता है। इसी प्रकार हमारे समय का कटना भी झूठ है। यदि समय कटता तो हमें ज्यों का त्यों बना रहना चाहिए था, अजर, अमर हो जाना चाहिए था, और समय को ही कटकर शिथिल और शीर्ण हो जाना चाहिए था। पर ऐसा नहीं होता। वही दिन रात और महीने और मौसम लौट-लौट कर आते हैं और उसी रूप में आते हैं। किन्तु हम दिन पर दिन कमजोर पड़ते जाते हैं। अन्त में एक दिन बूढे हो कर मर जाते हैं। इस में सन्देह नहीं कि दिन तो सभी के ढल जाते हैं, भोगी के भी और योगी के भी, परन्तु ढलने ढलने में अंतर है। तपस्या करते-करते बूढ़ा होने पर या मरते समय उसे तनिक भी सन्ताप नहीं होता। परन्तु विषयी बीती बातों के लिए हाथ मलता है, आगे के लिए हाय हाय करता है और मृत्यु को याद करके सिर धुनता है। इसके विपरीत साधारण गृहस्थ भी स्वभावतया जिन कामों को करता है यदि उन्हीं को वह स्वेच्छा से करे और जो कुछ आपड़े उसे चुप चाप सहा करे तो उसे गृहस्थी में भी वही सुख मिलेगा जो तपस्वी को घोर तपस्या में मिलता है।

श्लोक ८

वलिभि र्मुखमाक्रान्तं पलितै र्नांकितं शिरः
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते।

पदच्छेद

वलिभि र्मुखमाक्रान्तं = बलिभिः + मुखम् + आक्रान्तम्
पलिते नांकितं = पलितेन + अंकितम्
तृष्णैका = तृष्णा + एका

पदान्वय

बलिभिः मुखम् आक्रान्तम्, शिरः पलितेन अंकितम्
गात्राणि शिथिलायन्ते, तृष्णा एका तरुणायते

शब्दार्थ

बलिभिः	=	झुर्रियों से
मुखम्	=	मुख
आक्रान्तम्	=	भर गया है
शिरः	=	सिर
पलितेन	=	सफेद बालों से
अंकितम्	=	पहचाने जाने लगा है अर्थात् बाल पक गये हैं
गात्राणि	=	शरीर के सब अंग
शिथिलायन्ते	=	ढीले पड़ रहे हैं (किन्तु)
तृष्णा एका	=	अकेली तृष्णा
तरुणायते	=	तरुण, जवान हुई जा रही है ।

भावार्थ

चेहरे पर झुर्रियां पड़ गयीं, बाल पक गये, हाथ पैर ढीले पड़ गये, किन्तु तृष्णा अब भी जोर पकड़ रही है ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि हम विषयों का भोग नहीं करते बल्कि विषयों द्वारा हमारा ही शो ण होता रहता है । इस श्लोक में उसी की पुष्टि की गयी है । जो भोगता है वह जवान होता है और जिनका उपभोग होता है वह क्षीण होता है । हम सब का यही अनुभव है कि हम तो खा पीकर बूढे ही होते जाते हैं और जवानी आती है तो केवल हमारी तृष्णा में । स्पष्ट है कि तृष्णा ही हमें खाये जा रही है ।

श्लोक ९

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुष बहुमानोऽपि गलितः
समाना स्वर्याता सपदि सुहृदो जीवित समाः
शनैर्यष्टचोत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने
अहो मूढः कायस्तदपि मरणापाय चकितः ।

पदच्छेद

भोगेच्छा = भोग + इच्छा
बहुमानोपि = बहुमानः + अपि
स्वर्याता = स्वः + याता
शनैर्यष्टचोत्थानं = शनैः + यष्टि + उत्थानम्
कायस्तदपि = कायः + तदपि
मरणापाय = मरण + अपाय

पदान्वय

भोगेच्छा निवृत्ता, पुरुष बहुमान अपि गलितः
समानाः स्वः याताः जीवित समाः सुहृद सपदि
शनैः यष्टि उत्थानम्, नयने च घन तिमिर रुद्धे
तदपि मूढः कायः मरण अपाय चकितः, अहो

शब्दार्थ

भोगेच्छा = भोग की इच्छा
निवृत्ता = दूर हो गयी
पुरुष बहुमानः = पुरुषों के योग्य सम्मान
गलितः = गल गया है अर्थात् आदर नहीं होता
समाना = समान अवस्था वाले
स्वः = स्वर्ग
याता = चले गये, सिधारे
जीवित समाः = जीवन के समान प्राण तुल्य
सुहृद् = इष्ट मित्र
सपदि = शीघ्र ही (जाते रहे)
शनैः = धीरे से
यष्टि उत्थानम् = लकडी टेक कर उठना पड़ता है

नयने च	= आखों में भी	मूढ:	= मूर्ख
घन	= घने	काय:	= शरीर
तिमिर	= (जाली से) अंधत्व	मरण अपाय	= मरने के डर से
रुद्धे	= छा गया है	चकित:	= घबरा जाता है
तदपि	= तिस पर भी	अहो	= अफसोस !

भावार्थ

विषयों को भोगने की इच्छा नहीं रही, उसकी शक्ति ही जाती रही। लोगों में मान मर्यादा घटी। संगी साथी स्वर्ग सिधारे। स्वयं हम भी बूढे हो चुके। लाठी के सहारे उठते-बैठते हैं। आखों में जाले पड़ गये हैं। सुझाई नहीं पड़ता। तिस पर भी मरने की बात सुनकर जी घबरा उठता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया था कि बुढापे में शरीर की बाहरी दशा क्या होती है। इसमें मन के भीतरी स्थिति का वर्णन है। बुढ़ापे में शरीर के समान मन भी शिथिल हो जाता है। जवानी की तरंगें और उमंगें अब मन में नहीं उठतीं। विषयों के भोगने की इच्छा जाती रहती है। उसकी इच्छा रहती ही नहीं। लोगों में मान मर्यादा भी काफ़ी सुख देने वाली वस्तु है, किन्तु बूढे होने पर वह भी घट जाती है। यदि कुछ सम्मान होता भी है तो वह केवल दिखावटी होता है। लोग दिल में गालियां दिया करते हैं या हँसी उड़ाते हैं। कहा करते हैं—पिंड नहीं छुटता मुए से। मान मर्यादा भी छोड़िए। यार दोस्तों से भी दिल बहल जाता है। संगी साथी होते तो उनसे अपनी कष्ट गाथा कहते। इस तरह दिल का गुबार उतार लेने में थोडी-सी शान्ति होती। कुछ पुरानी बातें कहते सुनते। थोडी देर के लिए पीछे की बातों में आज की बातें भूल जाते। पर यार दोस्त, संगी, साथी होंगे भी तो अपनी ही उम्र के, सो वह भी बूढे हो गये या मर गये। जो कोई होगा वह भी कहीं कब्र में पैर लटकाये पड़ा होगा। मान लीजिए भोग नहीं चाहिए, मान मर्यादा नहीं चाहिए और दिल को तसल्ली भी नहीं चाहिए, पर इतना तो कम से कम हो कि अपना काम आप कर ले सकें। सो वह भी नहीं होता। उठना बैठना दूभर हो जाता है। आखों को सुझाता नहीं। ऐसी दशा में पाखाने पेशाब के लिए आदमी दूसरों का मोहताज

हो जाता है। जब शरीर को सुख नहीं, और मन को शान्ति नहीं तब जीने में क्या रखा है। इस जीने से तो मर जाना कहीं अच्छा है। माना कि आत्महत्या करके मरना नहीं है। इतना तो है ही कि सबके समान हमें भी मरना है, यह समझकर शान्त चित्त रहें। परन्तु मनुष्य मरने की बात सुनकर घबरा उठता है। तृष्णा के मारे वह यह इच्छा करता है कि वह बराबर जीता ही रहे। कोई मरने की बात कहे तो वह झल्ला उठता है—मैं क्यों मरूं? तू मरे, तेरे फलाँ मरें। मूर्खता की हद हो गयी।

श्लोक १०

आशा नाम नदी मनोरथ जला तृष्णा तरंगा कुला
राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्य्यद्रुम ध्वंसिनी
मोहावर्त्त सुदुस्तराति गहना प्रोत्तुंग चिंता तटी
तस्या पारगता विशुद्ध मनसा नन्दन्ति योगीश्वरा।

पदच्छेद

तरंगाकुला = तरंग + आकुला
मोहावर्त = मोह + आवर्त
सुदुस्तरातिगहना = सुदुस्तरा + अतिगहना
प्रोत्तुंग = प्र + उत्तुंग
योगीश्वरा = योगी + ईश्वरा

पदान्वय

आशा नाम नदी, मनोरथ जला, तृष्णा तरंग आकुला,
राग ग्राहवती, वितर्क विहगा, धैर्य्य द्रुम ध्वंसिनी
मोह आवर्त सुदुस्तरा अतिगहना, प्र उत्तुंग चिंता तटी
तस्या पारगता विशुद्ध मनसा योगीश्वरा नन्दन्ति।

शब्दार्थ

आशा नाम नदी	= आशा नाम की नदी है	धैर्य द्रुम	= धैर्य रूपी वृक्ष को
		ध्वंसिनी	= ध्वंस करने वाली है
मनोरथ	= इच्छाएँ	मोह	= अज्ञान रूपी
जला	= (जिसके) जल है,	आवर्त	= भँवर के कारण
तृष्णा तरंगा	= तृष्णा के लहरों से	सुदुस्तरा	= पार करना कठिन है
आकुला	= आकुल है (यह नदी)	अतिगहना	= बहुत गहरी है
		प्रउत्तुंग	= बहुत ऊंचे
राग ग्राहवती	= राग रूपी मगर, घड़ियालों से भरी हुई है,	चिन्ता	= चिन्ता रूपी
		तटी	= किनारों वाली है,
		तस्याः	= उस (नदी) को
वितर्क	= शंका रूपी	पारगताः	= पार किए हुए
विहगा	= पक्षियों वाली है (शंकाएं पक्षी बन कर उस पानी पर तैरती हैं)	विशुद्ध	= स्वच्छ
		मनसा	= मन वाले
		योगीश्वरा	= योगीराज
		नन्दन्ति	= आनन्द करते हैं

भावार्थ

आशा (लालच) एक नदी के समान है। तरह-तरह की इच्छाएं उस नदी में जल के समान हैं। अप्राप्य वस्तुओं का लालच तूफ़ानी लहरें हैं। प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति पानी के मगर के समान हैं। रह रह कर मन में उठने वाली शंकाएँ पानी की पंछी हैं। आशा रूपी नदी धैर्य रूपी वृक्ष को जड़ से उखाड फेंकने वाली है। उस नदी में बडे बडे भयंकर भंवर हैं, जिनसे पार पाना कठिन है। उसके किनारे बहुत ऊंचे हैं, जिन पर चढ़ पाना सरल नहीं है। ऐसी भयंकर है यह आशा रूपी नदी। इस नदी को विशुद्ध मनवाले योगीजन ही पार उतर कर आनंद उठा सकते हैं।

विशेषार्थ

पिछले नौ श्लोकों में तृष्णा से पीड़ित लोगों की दशा को चित्रित किया गया था। अन्त में इस श्लोक के अन्दर वह तृष्णा स्वयं किस प्रकार की है, यह बतलाने की चेष्टा की गयी है।

आशा को एक नदी कहा गया है। नदी और आशा में क्या समानता है ? नदी सदा किसी ऊंचे प्रदेश से शुरू होती है फिर निरन्तर नीचे की ओर गिरती हुई जिधर ढाल मिले बहती जाती है। अन्त में उसका जल समुद्र में जाकर लय हो जाता है। किन्तु नदी का रूप तब भी नहीं मिटता। वह ज्यों का त्यों बना रहता है। एक बार जहां नदी शुरू हुई फिर वह कहीं समाप्त होने का नाम नहीं लेती। जहां समाप्त भी होती है वहाँ वह उससे भी बडी नदी या समुद्र में जाकर मिल जाती है। हाँ, नदी भी समाप्त होती है। कहाँ ? केवल मरु भूमि में, जहां पानी बालू में सूख जाता है। वहाँ पर भी धीरे-धीरे छोटी होकर, पतली होकर सूख जाती है। वास्तव में पानी ही नदी का कारण है। तरह-तरह की इच्छाओं को इस पानी से उपमा दी गयी है। शुरू में नदी में पानी कम होता है। ज्यों ज्यों नदी आगे बढ़ती है त्यों त्यों छोटे बडे नदी नाले उसमें आकर मिलते जाते हैं।

ठीक उसी प्रकार मनुष्य के मन में आरम्भ में कोई साधारण इच्छा होती है। उसके बाद दूसरी इच्छा। फिर एक दूसरे से बडी इच्छा। नदी के जल के समान इच्छाओं का समूह बढ़ता ही जाता है। इच्छाओं का समुद्र बन जाता है। तब पता भी नहीं लगता कि इन इच्छाओं का आदि अंत कहां है। समुद्र का पानी खारा ही खारा होता है। नदी के जल के समान इच्छाओं की मिठास भी वहां जाकर मिट जाती है। इच्छाओं के सम्बन्ध में एक और बात भी है। कभी कभी नदियों में पानी बहुत बढ़ जाता है। वह बाढ़ कहलाती है। तब नदी स्वयं एक समुद्र बन जाती है। उसका असली रूप तो बदलता ही है। साथ ही आस-पास के सैकडों घर–गांव भी बरबाद कर डालती है। इच्छाओं की बाढ़ भी उस अकेले व्यक्ति को ही नहीं बल्कि दूसरों के लिए भी बवाल बन जाती है। महायुद्ध इन ही इच्छाओं की बाढ़ के परिणाम हैं। हाँ, पानी से लाभ भी उठाया जा सकता है। बांध बांधकर, पानी को रोककर सिंचाई का काम लिया जा सकता है। पानी के धार में भी नाव पर बैठकर लोग जहाँ जी चाहे जा सकते हैं। परन्तु यह काम इच्छाओं को रोकने तथा उनपर काबू पाने का है। या मरुभूमि की नदी के समान इच्छाएँ कम होती जाएँ, मिट जायें तो नदी का नाम भी न रहे।

अब आगे चलिए। पानी के बाद तरंगों की बात कही है। तूफान के समय पानी में ऐसी बडी बडी लहरें उठती हैं कि नदी में कोलाहल मच जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य अप्राप्य वस्तुओं के लिए ललचाने लगता है तब उसकी

शान्ति नष्ट हो जाती है। किसी प्रकार यदि वस्तु प्राप्त हुई तो उसमें मनुष्य आसक्त हो जाता है। इस आसक्ति को मगर कहा गया है। मगर के मुँह में ऊपर नीचे के दांत इस प्रकार बने होते हैं कि जब वह दबते हैं तो एक दूसरे के बीच भिच जाते हैं। इसी लिए यदि कोई जानवर मगर के मुंह में फंस जाय तो फिर छुटकारा नही पा सकता। मगर उसे निगल जाता है। आसक्ति भी मनुष्य को मानो मगर के मुँह में पहुंचाकर उसका सर्वनाश कर देती है। आसक्ति के साथ सदा यह शंका बनी रहती है कि उसकी वस्तु को कोई छीन न ले जाए। शंकाओं को पानी के पंछी से उपमा दी गयी है। पंछी ऊंचे आकाश में उड़ते हैं। पर पानी के भीतर के जीव पर झपट्टा मारते हैं। मन के अन्दर शंकाओं का भी यही हाल है। हमारी शंकाएँ भी सदा हवाई होती हैं और वही बाद में असली बनकर आ दबोचती हैं। शत्रुओं का साहस से सामना करना पड़ता है। साहस की उपमा पेड़ से दी गयी है। नदी की राह में जो पेड़ पड़ जाएँ वह ज्यादा देर तक नहीं टिके रह सकते। नदी का पानी उनकी जडों से मिट्टी काट-काट कर बहा ले जाता है। अंत में पेड़ की जड़ें उखड़ जाती हैं और वह पानी में बहने लगता है। इसी प्रकार आशा के प्रवाह में मनुष्य का साहस टूक-टूक हो जाता है और मनुष्य इच्छाओं के पीछे बहने लगता है। मोह यानी अज्ञान भंवर है। जो वस्तु भंवर में पड़ती है वह चक्कर काटकर तह में बैठ जाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी अज्ञान वश बार-बार वही काम करता है। परिणाम यह होता है कि अज्ञान उसे ले बैठता है। नदी के तट को चिन्ता कहा गया है। तट भी ऊंचे-ऊंचे जिन पर चढ़ पाना असम्भव है। केवल निहारते ही रहना पड़ता है। नदी की धार में आदमी एक जगह तो रह नहीं सकता। देखते ही देखते कोसों दूर बह जाता है। किनारे उसे सदा पास ही दीखते हैं, किन्तु वह घाट लगने नहीं पाता। बहते पानी का किनारा एक नहीं होता, हर सेकंड में एक नया ही तट उसकी आँखों के सामने होता है। आशा में फंसे हुए मनुष्य को भी अनगिनत चिन्ताएँ घेरे रहती हैं जो कभी दूर नहीं होतीं। उसका ध्येय एक नहीं रहता। बहते पानी के तट की तरह बराबर बदलता रहता है। जीवन उद्देशहीन बन जाता है।

इस प्रकार एक आशा से कितनी ही आफतें खडी हो जाती हैं। तरह-तरह की इच्छाएँ, अप्राप्त वस्तुओं के लिए तृष्णा, प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति, उन्हें कोई छीन न ले, उसकी आशंका, कठिनाइयों से घबरा कर धैर्य खो बैठना, अज्ञान में पड़ कर चक्कर काटना, अपार चिन्ताओं के जाल में फंस जाना, इतनी भयंकर वस्तु है आशा।

आशा के इतने बीभत्स वर्णन के बाद अन्त में आनन्द के किरणों की थोडी आभा दिखला दी गयी है। इतने भयंकर नदी को भी सरलता से पार कर सकते हैं और उस पार आनन्द ही आनन्द है। यह काम विशुद्ध मन वाले योगियों को ही सुलभ हो सकता है। किसका पल्ला भारी है, योगीराज का कि विशुद्ध मन का? इस प्रकार की शंका की आवश्यकता नहीं है। दोनों एक ही वस्तु हैं। जो योगी है उसका मन विशुद्ध है, और जिसका मन विशुद्ध है वह योगी है। भक्ति योग या ज्ञान योग, इस चक्कर में पड़ने की भी जरूरत नहीं है। विशुद्ध मन ही प्रधान है। जो सब में समान है।

जिस मन के भीतर विषयों की वासना नहीं वही मन शुद्ध होता है। जिस मन में स्वार्थ भरा न हो वही माया मोह से ऊपर उठ सकता है। शुद्ध स्वार्थ के दूर होने पर ही यह संभव है स्वार्थ छूटे, सब कुछ सधे।

प्रथम दशक का सारांश

श्लोक १– योगीश्वर भगवान शिव की वंदना।
२– तृष्णा के कारण मनुष्य ढोंगी बनकर निष्फल देशाटन करता है।
३– चमत्कारों से धन पाने की व्यर्थ चेष्टा करता है।
४– नीचों की निरर्थक सेवा करता है।
५– स्वाभाविक लज्जा भी खो बैठता है।
६– ठीक दिशा में परिश्रम नहीं होता।
७– सुख नहीं दुख होता है।
८– बूढ़ा होने पर भी लालच नहीं छूटता।
९– अपनी मूर्खता को नहीं समझ पाता।
१०– तृष्णा विशुद्ध मन से दूर हो सकती है।

इस प्रकार वैराग्य की यह पहली सीढी तृष्णा के तजने से मानसिक विशुद्धता अर्थात् विषय परित्याग की दूसरी सीढी पर पहुँचना है।

श्लोक ११

न संसारोत्पन्नं चरित मनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः
महद्भिः पुण्यौघौश्चिर परिगृहीताश्च विषयाः
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ।

पदच्छेद

संसारोत्पन्नम् = संसार + उत्पन्नम्
चरितमनुपश्यामि = चरितम् + अनुपश्यामि
पुण्यौघौश्चिरपरिगृहीताश्च = पुण्य + ओघैः + चिरपरि-गृहिताः + च
व्यसनमिव = व्यसनम् + इव
महान्तः = महा + अंतः

पदान्वय

संसार उत्पन्नम् चरितम् कुशलम् न अनुपश्यामि
पुण्यानाम् विपाकः विमृशतः मे भयम् जनयति
महद्भिः पुण्य ओघैः चिर परिगृहीताः, विषयाः
महांतः विषयिणाम् व्यसनम् दातुम् इव जायन्ते

शब्दार्थ

संसार उत्पन्नम्	=	संसार से सम्बन्ध रखने वाले	भयम जनयति	=	भय पैदा होता है (क्योंकि)
चरितम्	=	कामों के ढंग में	महद्भिः	=	भारी
कुशलम्	=	भलाई	पुण्य ओघैः	=	पुण्य के समूह से, बहुत भारी पुण्य के कारण
न अनुपश्यामि	=	नहीं देखता हूँ	चिर	=	सदा से, अधिक समय तक
पुण्यानाम्	=	अच्छे कामों के फल के	परिगृहीताः	=	खूब भोगे हुए
विपाकः	=	परिणाम को	विषयाः	=	शरीर को सुख देने वाली वस्तुएं
विमृशतः	=	विचार करने से भी			
मे	=	मुझे			

महान्तः	= अंत में चलकर	व्यसनम्	= दुख
विषयिणाम्	= विषयी लोगों को	दातुम इव	= देने वाले के समान
		जायन्ते	= हो जाते हैं

भावार्थ

सांसारिक कार्यों में कोई भलाई नहीं दीखती। पुण्य कार्यों के फल का विचार करने पर भी मुझे भय ही लगता है। क्योंकि अनेक पुण्यों के बाद धन, दारा, पुत्रादि का सुख प्राप्त होता है। किंतु वे भी अंत में दुख ही के कारण बन जाते हैं।

विशेषार्थ

पिछले दशक में तृष्णा के परित्याग पर कहते हुए अन्त में वैराग्य की दूसरी सीढ़ी त्याग की ओर संकेत किया गया था। इस श्लोक में उसी त्याग की विडम्बना के सम्बन्ध में कहा गया है। संसार के सभी अच्छे या बुरे कार्य अथवा उनके फल स्वरूप पाप या पुण्य में विशेष अंतर नहीं है। जो कार्य बुरे कहे जाते हैं अथवा उनका जो पाप फल है, सो है ही, परन्तु अच्छे कहे जाने वाले कार्य अथवा उनके फल स्वरूप प्राप्त होने वाला जो पुण्य है, उसमें भी प्रसन्न होने की बात नहीं है। उल्टे उनसे भी दुख ही प्राप्त होता है। यही नहीं, पुण्य की मात्रा के अनुपात में दुःख की मात्रा बढ़ती जाती है। यहां तक कि महान पुण्य-फल के उपभोग के बाद दारुण दुख ही होता है। यह बात कुछ आश्चर्य जनक जरूर लगती है, किन्तु वास्तविक बात ऐसी ही है। कहा जाता है कि धन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, बंधु, मित्र आदि पूर्व संचित पुण्य से प्राप्त होते हैं। परन्तु यह सभी चीजें एक न एक दिन समाप्त होने वाली हैं। वह वस्तुएँ हम से छूट जाएँगी या हम को ही उन्हें छोड़ जाना होगा। कम से कम मरना तो निश्चित ही है। उस समय इन वस्तुओं के छूटने से हमें उतना ही अधिक दारुण दुख होगा जितनी अधिक हमें उनमें आसक्ति होगी। हाँ, यह कह सकते हैं कि जब तक जीते हैं इनके कारण सुखी रहते हैं, जब हम ही नहीं रहेंगे तब उनकी चिन्ता क्यों करें? ऐसी बात नहीं है। हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार हमारा जीवन इसी जीवन से समाप्त नहीं होता। हमें अपने पुण्यों या पापों के अनुसार अनेकों जन्म लेने पड़ते हैं। पाप योनियों में जन्म लेनेया नरक की यातनाओं की बात छोड़िए। वह तो निर्विवाद है। परन्तु पुण्य योनियों अथवा पुण्यों का अंतिम फल स्वर्ग या स्वर्गीय सुख भी स्थायी नहीं है, वास्तविक

नहीं है। पुण्य के क्षीण होने पर फिर लौट कर इसी लोक में ही आना पड़ता है। सीधे नरक में जा रहना सुगम है। किन्तु स्वर्ग के सुख भोगने के बाद तब नरक में जाना पड़े तो उसमें कई गुना अधिक कष्ट का अनुभव होगा। दूसरे जन्म की बात छोड़िए, एक ही जीवन में भी तो स्वर्गीय सुखों के भोगने के बाद कभी-कभी नारकीय यातनाएं झेलनी पड़ती हैं। यदि शुरू ही से कष्टमय जीवन बिताते रहें तो उतना कष्ट नहीं जान पड़ता। किन्तु यदि हम किसी न किसी प्रकार से अच्छी दशा को प्राप्त हो गये, सांसारिक सुख की सभी सामग्री प्राप्त हो गयी, फिर वह छूट जाए तो हमें अधिक वेदना होगी। इसीलिए इस पुण्य–फल को भी व्यसन कहा गया है। 'व्यसन' के माने हैं 'लत'। जिस प्रकार हमें तम्बाकू खाने या शराब पीने की लत पड जाने मे कष्ट होता है, उसी प्रकार इन सुखों के आदी बन जाने पर भी उतना ही कष्ट होता है, जितना किसी और व्यसन से। जो गरीब सदा कष्ट ही भोगते रहते हैं उन्हें उतना कष्ट नहीं होता जितना वास्तव में होना चाहिए। क्यों? इसलिए कि वह उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। किन्तु उनका यह कष्ट–सहन उनकी स्वेच्छा से नहीं है। मजबूरी से हैं। नहीं तो वही तपस्या हो जाए। यहाँ पर एक और बात का भी ध्यान रखना चाहिए। स्त्री, पुत्रादि हमें सुख या दुख देने के लिए ही हैं, ऐसा भी न समझना चाहिए। यह न हमारे बुलाए आये हैं और न हमारे भेजे जा रहे हैं। हमारी तरह वह भी अपना-अपना दुख सुख भोगने आते हैं और भोग कर चले जाते हैं। हर एक का सुख-दुख उसी का है। एक के सुख दुख में दूसरे का साझा नहीं है। न दूसरे को अपना दुख उठा कर दे सकते है और न दूसरे से हम ले सकते हैं। इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि सांसारिक वस्तुओं में सुख नहीं है। इस सुख की भावना को दिल से त्याग देना चाहिए। इसी तरह दुख का भय भी नहीं मानना चाहिए।

इस श्लोक में संसार का शब्द संसार यानी दुनिया के लिए नहीं आया है। दुनिया की अपेक्षा "दुनियादारी" का शब्द अधिक उपयुक्त मालूम होता है। लोग अपने कामों में दुनियादारी का जो ढंग बरतते हैं वही दुखों का कारण है। काम वही करें भले ही, पर यदि उन कामों के करने का ढंग और भावना बदल जाए तो बहुत सारे दुखों से छुटकारा मिल सकता है।

श्लोक १२

अवश्यं यातारश्चिरतर मुषित्वाऽपि विषयाः
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून
व्रजन्तः स्वातंत्र्याद तुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शम सुख मनन्तं विदधति।

पदच्छेद

यातारश्चिरतर मुषित्वाऽपि = यातारः + चिरतरम् + उषित्वा + अपि
को भेदस्त्यजति = कः + भेदः + त्यजति
यत्स्वयममून् = यत् + स्वयम् + अमून्
स्वातंत्र्यादतुल = स्वातंत्र्यात् + अतुल
ह्येते = हि + एते
सुखमनन्तम् = सुखम् + अनन्तम्

पदान्वय

विषयाः चिरतरम् उषित्वा अपि अवश्यम् यातारः जन यत् स्वयम् अमून न त्यजति (तत्) वियोगे को भेदः स्वातंत्र्यात् व्रजन्तः मनसः अतुल परितापाय स्वयम् त्यक्त्वा एते हि अनन्तम् शम सुखम् विदधति

शब्दार्थ

विषयाः	=	शरीर को सुख देने वाली वस्तुएं	स्वयम्	=	आपसे आप
			न त्यजति	=	नहीं छोड़ता
चिरतरम्	=	बहुत दिनों तक	तत्	=	वह
उषित्वा अपि	=	भोगने पर भी	वियोगे	=	(आपसे आप) छूट जाने में
अवश्यम्	=	जरूर			
यातारा:	=	जाने वाले हैं	को भेदः	=	क्या भेद है ?
(यत्	=	जिसे)	स्वातंत्र्यात्	=	आप से आप
जनः	=	मनुष्य	व्रजन्तः	=	जाने पर

मनसः	=	मन को	त्यक्त्वा	=	छोड़ने पर
अतुल	=	जिसकी तुलना न हो, बेहद	एते हि	=	ये ही
			अनन्तम्	=	बेहद
परितापाय	=	संताप कारक होगा	शम सुखम्	=	मानसिक सुख, आनंद
स्वयम्	=	हम अपने आप	विदधति	=	देंगे

भावार्थ

संसार के विषयों को चाहे जितने दिन भोगते रहें वे तो एक दिन छूट ही जाएँगे। इस लिए हमें स्वयं ही उन्हें छोड़ देना अच्छा है। हमारी इच्छा के विरुद्ध उनका छूट जाना और हमारे अपनी खुशी से उन्हें छोड़ देना, इन दोनों में भारी अन्तर है। जब वे अपने आप छूट जाएँगे तब उनसे हमें भारी दुख होगा, किन्तु यदि हम ही उन्हें छोड़ देंगे तो मन को भारी शान्ति प्राप्त होगी।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि संसार के सभी विषय दुख के कारण हैं। स्वर्गीय सुख भी सीमित ही हैं। अंत में चल कर वह भी दुखदायीं सिद्ध होते हैं। जब बुरे कामों में भी दुख, और अच्छे कामों में भी दुःख, स्वर्ग में भी दुःख और नरक में भी दुख, तो फिर सुख कहां है? इस श्लोक में बताया गया है कि सुख संसार में ही है, इसी लोक में है, इसी जीवन में है और इन ही वस्तुओं में है, और उस सुख को पा लेना बहुत सरल है। उपाय यह हैं कि जो विषय एक दिन छूट कर ही रहेंगे, उन्हे पहले से ही छोड़ देना। पिछले श्लोक में बताया गया था कि स्वर्गीय सुख भी अंत में दुखदायी होते हैं। इसमें बताया है कि नारकीय कष्ट भी सुखदायी हो सकते हैं। कष्ट तब ही होता है जब हम यह समझ लेते हैं कि विषय-वस्तुएं स्थायी हैं। परन्तु उन्हें तो नष्ट होना ही है। किसी भी दशा में वह स्थायी नहीं हो सकते। ऐसी बात नहीं है कि लोग इसे जानते नहीं। सभी जानते हैं कि स्त्री, पुरुष, सन्तान सब ही एक न एक दिन मरेंगे। फिर भी जब कोई मरता है तब सिर पीटते हैं। इस दुख का कारण क्या है? जो बात होनी ही हो, उसके लिए दुख कभी नहीं हो सकता। दुख तब होता है जब कोई अनहोनी बात हो जाए। जीना मरना तो अनहोनी है नहीं, फिर भी इनसे सुख-दुख क्यों होता है? ये बातें अनहोनी तो नहीं हैं, लेकिन हम लोग

जाने या अनजाने इन्हें अनहोनी समझते रहते हैं। हमारे दिलों में यह भावना बनी रहती है कि मेरी स्त्री, सन्तान, धन, सम्पत्ति, आदि सदा बनी रहे और बनी रहेंगी। कम से कम ऐसा तो समझते ही हैं कि अपने जीते जी ये चीजें नहीं छूटेंगी। मनुष्य साधारणतया खुद अपने मरने की कल्पना तो कर ही नहीं सकता। इसलिए हमेशा यही सोचा करता है कि मैं बड़ा आदमी बनूंगा। मेरा बड़ा सम्मान होगा। किंतु जब ये बातें नहीं हो पातीं और उल्टे जो प्राप्त वस्तुएं हैं वे भी खसकने लगती हैं तब वह दुखी होता है। स्पष्ट है कि कल्पना में कष्ट और वास्तविकता में सुख है। यह सामग्री सदा बनी रहेगी, ऐसा समझना कल्पना है। ये वस्तुएं अस्थायी हैं इसलिए इन्हें त्यागना चाहिए, अर्थात् उन में आसक्त नहीं रहना चाहिए, ऐसा सोचना वास्तविकता है। इस लिए जब तक विषयों से चिमटे रहते हैं तब तक कष्ट होता है। और जब इन्हें मनसे त्यागते हैं तब सुख का अनुभव होता है।

यहां पर यह ध्यान रहे कि किसी स्वस्थ योजना की कल्पना करके उसे कार्यान्वित करने की चेष्टा करना और ऊपर के दुराशापूर्ण कल्पना में भारी अंतर है।

श्लोक १३

ब्रह्मज्ञान विवेक निर्मल धियः कुर्वन्त्यहोदुष्करं
यन्मुंचंत्युप भोग भांज्यपि धनान्ये कांततो निस्पृहः
संप्राप्तान्नपुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढ प्रत्ययो
वाञ्छा मात्र परिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्।

पदच्छेद

कुर्वन्त्यहो = कुर्वन्ति + अहो
यन्मुंचंत्युप भोगभांज्यपि = यत्+मुंचन्ति+उपभोग भाञ्जि+
धनान्येकान्ततः = धनानि + एकान्ततः
संप्राप्तान्नपुरा = संप्राप्तानि + न पुरा
परिग्रहाण्यपि = परिग्रहाणि + अपि

पदान्वय

ब्रह्मज्ञान विवेक निर्मल धियः दुष्करम् कुर्वन्ति आहो यत् एकान्ततः निस्पृहाः उप भोग भाञ्जि अपि धनानि मुंच्यंति वयम् तु पुरा न सम्प्राप्तानि न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढ प्रत्ययः वाञ्छा मात्र परिग्रहाणि अपि त्यक्तुम् परम् न शक्ताः

शब्दार्थ

ब्रह्मज्ञान विवेक	=	ब्रह्मज्ञान के विवेक से	पुरा	=	पहले (कभी धन सम्पत्ति को)
निर्मल धियः	=	जिनका हृदय शुद्ध है (वे)	न सम्प्राप्तानि	=	न प्राप्त हुए थे
			न सम्प्रति	=	न इस समय प्राप्त हैं
दुष्करम्	=	कठिन कार्य			
कुर्वन्ति	=	कर डालते हैं	न च	=	और न (आगे)
यत्	=	जो			
एकान्ततः	=	एकदम	प्राप्तौ	=	प्राप्त होने का
निस्पृहाः	=	उदासीन होकर	दृढ	=	पक्का
उपभोग भोञ्जि अपि	=	सुख भोग करते हुए भी,	प्रत्ययः	=	भरोसा है
			वाञ्छा मात्र	=	इच्छामात्र से
धनानि	=	धन सम्पत्ति को	परिग्रहाणि अपि	=	पकड़े हुए वस्तुओं को भी
मुञ्च्यंति	=	त्याग देते हैं			
अहो	=	महान आश्चर्य है	त्यक्तुम	=	त्यागने में
वयम्	=	हम हैं कि	परम	=	एकदम
			न शक्ता	=	असमर्थ हैं

भावार्थ

ब्रह्मज्ञान से जिनका हृदय निर्मल हो चुका है, वे कठिन से कठिन कार्य भी कर सकते हैं। धन सम्पत्ति आदि का उपभोग करते हुए भी एकदम उदासीन हो कर वे उन्हें छोड़ सकते हैं। हमें न पहले कभी ये वस्तुएं प्राप्त थीं, न इस समय हैं और न आगे ही प्राप्त होने का कोई भरोसा है। केवल मन की मीठी कल्पनाएँ मात्र हैं। हम लोग इन काल्पनिक वस्तुओं का विचार भी नहीं छोड सकते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि विषयों को आपसे आप त्यागने में सुख है । इस श्लोक में कहा है कि विषयों को त्यागना महा कठिन कार्य है । किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि जिनका हृदय शुद्ध हो वे ऐसे कठिन कार्यों को भी कर सकते हैं, बल्कि वे इससे भी कठिन कामों को कर डालते हैं । वह कठिन कार्य कौन है ? धन सम्पत्ति यथेष्ट प्राप्त हो, उसका खूब उपभोग भी करते हों, तब भी उस धन सम्पत्ति का त्यागना और त्यागना ही नहीं, वरन उसके प्रति एकदम उदासीन हो जाना, निश्चय ही ऐसा करना सरल नहीं है । ऐसा वही कर सकते हैं जिनका हृदय शुद्ध हो । हृदय शुद्ध कैसे होगा ? हृदय उनका ही शुद्ध होता है जो ब्रह्मज्ञानी हों, जो तत्त्वदर्शी हों, जो असलियत को जानते हों । स्वार्थ से ऊपर उठने पर ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है । पर यह तो साधारण लोगों की बात न हुई । सम्पत्ति शाली होना और साथ ही ब्रह्मज्ञानी बनना, दोनों बिरलों में ही हो सकते हैं । फिर साधारण लोगों का क्या होगा ? उनके लिए भी निराश की कोई बात नहीं है । उनके लिए तो यह काम और भी सरल है । उनके पास कोई ऐसी वस्तु ही नहीं है जिसे त्यागने की चेष्टा करनी पडे और उसमें उन्हें कष्ट हो । यदि कष्ट होता है तो कारण यही है कि उन वस्तुओं की वे आशा लगाये बैठे रहते हैं । कठिन इसलिए है कि उन काल्पनिक वस्तुओं का विचार भी दिल से दूर नहीं कर सकते और सरल इसलिए है कि उन्हें असली वस्तुओं को नहीं वरन् केवल उस काल्पनिक इच्छा को छोड़ना है और बस ।

यहां पर यह स्पष्ट है कि पीछे जैसा बताया गया है कष्ट केवल कल्पना में है । त्यागना केवल कल्पना ही को है, जो सुख भोगते हैं उनके लिए भी और जो दुख भोगते हैं उनके लिए भी । यदि धनी लोग वस्तुओं को तो छोड़ दें, पर दिल में उनकी इच्छा बनी रहे तो उससे उन्हें वेदना ही होगी । इसी प्रकार यदि कोई दरिद्र है, पर वह सुख सामग्री की चिंता में घुलता रहे तो उसे कष्ट ही अधिक होगा । यही दुनियादारी है । दुनियादारी के दुख से बचने के लिए धनी तथा दरिद्र दोनों को भी इस एक कल्पना को ही त्यागना है । कल्पना एक हवाई वस्तु है । इसलिए उसे त्यागना सरल है । किंतु मन ऐसा है कि बिना प्रगाढ प्रयास के यह हवाई किला टूट नहीं सकता । इसलिए यह महा कठिन है । कल्पना को त्यागने में एक विशेष सुविधा यह है कि इसमें कोई भौतिक हानि उठानी नहीं पड़ती । धनी–मानी अपनी प्राप्त–सुख–सामग्री का उपभोग करते हुए भी प्रसन्न रह सकता है और दीन–हीन अपनी ही दशा में सुखी रह सकता है ।

श्लोक १४

**धन्यानां गिरि कंदरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशंक मंकेशया
अस्माकं तु मनोरथोपरिचित प्रासाद वापी तट
क्रीडा कानन केलि कौतुक जुषामायुः परं क्षीयते।**

पदच्छेद

ध्यायतामानन्दाश्रु = ध्यायताम् + आनन्द + अश्रु
निश्शंकमंकेशया = निः + शंकम् + अंकेशया
मनोरथोपरचित = मनोरथ + उप रचित
कौतुक जुषामायुः = कौतुक जूषाम् + आयु :

पदान्वय

गिरिकंदरेषु वसताम् परम् ज्योतिः ध्यायताम् धन्यानाम् आनन्द अश्रु कणान् शकुना निः शंकम् अंकेशया पिबन्ति अस्माकम् तु मनोरथ उपरचित प्रासाद वापी तट क्रीडा कानन केंलि कौतुक जुषाम् आयुः परम क्षीयते

शब्दार्थ

गिरि	= पहाडों के	शकुना	= पक्षियां
कंदरेषु	= खोहों में	निःशंकम्	= निडर होकर
वसताम्	= वास करते हुए	अंकेशया	= गोद में बैठ
परम्ज्योतिः	= परब्रह्म की ज्योति का	पिबंति	= पीते हैं
		अस्माकम् तु	= हमारी तो (यह दशा है कि)
ध्यायताम्	= ध्यान करने वाले		
धन्यानाम्	= धन्य पुरुषों के	मनोरथ	= कल्पना (मात्र से)
आनन्द अश्रुकणान्	= परमानंद के कारण बहने वाले आंसुओं को	उपरचित	= निर्माण किये हुए
		प्रासाद	= महलों

वापी तट	=	बावड़ी, तालाब के घाटों	कौतुक जषाम्	=	लालायित रहते हैं (और)
क्रीडा कानन	=	क्रीडा वनों के	आयु :	=	उम्र
केलि	=	मौज के लिए	परम क्षीयते	=	पूरी की पूरी बीत जाती है

भावार्थ

धन्य हैं वे जो पहाड़ों की खोहों में बैठ कर भगवत्‌भजन किया करते हैं। वह अपने ध्यान में इतने लीन रहते हैं और उसमें उन्हें इतना आनंद आता है कि उनकी आँखों से आंसू बहा करते हैं और जंगल के पक्षी उनकी गोदों में बैठ कर उन आनन्दाश्रुओं को बेखटके पान करते हैं। मगर हमारे अभागे पन की पराकाष्टा है कि महल, बाग, तालाब आदि के सपने देखते-देखते सारी उम्र बीत जाती है और कुछ हाथ नहीं आता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में दो प्रकार के लोगों के बारे में कहा गया था, एक ब्रह्मज्ञानी जो संसार के प्रलोभनों का परित्याग सुगमता से कर सकते हैं। दूसरे साँसारिक व्यक्ति जो उसकी लालसा को भी त्यागने में असमर्थ होते हैं। इस श्लोक में इन्हीं दो प्रकार के व्यक्तियों के परिणाम के सम्बन्ध में कहा गया है। ब्रह्मज्ञानियों को परमानन्द की प्राप्ति होती है और वे उस आनन्द में इतने लीन हो जाते हैं कि उन्हें इस का आभास ही नहीं होता कि इस संसार में क्या हो रहा है, स्वयं उनके शरीर पर क्या गुजर रही है। कहा जाता है कि उनके शरीर पर दीमक अपना घर बना लेते हैं। इस श्लोक में यह तो नहीं कहा है किन्तु इतना स्पष्ट ही कहा है कि पक्षियाँ उनकी गोद में बैठ कर उन्हीं के आनन्दाश्रुओं का पान करते हैं। दीमक वल्मीक बनालें या पक्षी अश्रु-पान करें, दोनों में भी एक ही बात झलकती है कि सैकडों हजारों जीव जन्तु–उस आनन्दमूर्ति के आश्रय में निर्वाह करते हैं। किन-किन प्राणियों को ब्रह्मज्ञानी की उस अवस्था से आध्यात्मिक रूप में और न जाने किस-किस रूप में क्या-क्या लाभ पहुँचते हैं, उनको बखानना तो मुश्किल है। उस ब्रह्मज्ञानी के सम्बन्ध में कहना तो और भी मुश्किल है। शायद इसीलिए ब्रह्मज्ञानी के विषय में अधिक न कह कर इस श्लोक में और आगे श्लोकों में वेष-धारी महात्माओं

के सम्बन्ध में ही अधिक कहा गया है। ऐसे लोग नाम के लिए एक कुटी या आश्रम बना लेते हैं, परन्तु उसमें बैठे-बैठे अपने लिए मठ, गद्दी, तालाब, पोखर, बाग-बगीचे और उनमें चेले-चेलियों के साथ विनोद-विहार की बातें सोचते रहते हैं। बहुतों के तो ऐसे सपने पूरे उतर ही नहीं सकते। अगर किसी ने पाखंड रचकर कुछ कर भी लिया तो देर सबेर पोल खुलेगी ही। लेने के देने पडेंगे। न दुनिया के रहे न दीन के।

परन्तु यह भी ध्यान में रहे कि यह बातें इन अधकचरे साधु-महात्मों के समान उन साधारण गृहस्थ पर भी लागू होती हैं जो खाने का ठिकाना न होने पर भी मिहनत से काम न करके केवल मन के लड्डू पकाया करते हैं। ऐसे ही लोग भभूत रमाकर साधू हो जाते हैं और यदि वे घर पर भी रहें तो मुफ्त-खोरी किया करते हैं।

श्लोक १५

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेक वारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेह मात्रम्
वस्त्रं विशीर्ण शत खंड मयी च कन्था
हा हा तथापि विषयान् न जहाति चेतः।

पदच्छेद

भिक्षाशनम् = भिक्षा + अशनम्
तदपि = तत् + अपि
नीरसमेकवारम् = नीरसम् + एक वारम
तथापि = तथा + अपि

पदान्वय

अशनम् भिक्षा तत् अपि नीरसम् एक वारम्
शय्या च भूः परिजनः निज देह मात्रम्
वस्त्रम् च विशीर्ण शत खण्डमयी कन्था
हा हा, तथापि चेतः विषयान् न जहाति

शब्दार्थ

भिक्षा अशनम्	= भोजन भिक्षा (है) भीख मांग कर खाना है,	वस्त्रम् च	= और कपडे
तत् अपि	= वह (भोजन) भी	विशीर्ण	= एकदम फटे हुआ
नीरसम्	= रूखा सूखा	शत खण्ड मयी कन्था	= सैकडों चीथडों की गुदडी है
एक वारम्	= एक ही जून	तथापि	= तब भी
शय्या च	= और बिस्तर	चेतः	= चित्त
भूः	= भूमि (है)	विषयान्	= विषयों को
परिजनः	= परिवार के लोग	न जहाति	= नहीं छोडता
निज देह मात्रम्	= निजी शरीर मात्र है	हा हा	= बडे दुख की बात है

भावार्थ

भीख माँग कर खाते हैं, वह भी बची-खुची, रूखी-सूखी और दिन में एक ही बार। यानी न जी भरता है और न पेट भरता है। ज़मीन पर पडे रहते हैं। बिस्तर नसीब नहीं हैं। घर या झोपडी भी नहीं हैं। बाल-बच्चे या नौकर-चाकर नहीं हैं। यह शरीर और हाथ-पैर ही सेवक तथा भाई-बन्धु हैं। पहिनने, ओढ़ने और बिछाने, सबके लिए एक ही गुदडी है जिसमें सैकडों पेवंद लगे हैं। खाना नहीं, कपड़ा नहीं, भाई बिरादर नहीं, इतनी बुरी दशा है। तब भी सदा विषयों में ही मन लगा रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में विरक्त (ब्रह्मज्ञानी) तथा आसक्त (सांसारिक) दोनों प्रकार के लोगों के सम्बन्ध में कहा था। आगे भी इन ही दोनों प्रकार के लोगों का अधिक विशदीकरण हैं। इस श्लोक में विरक्त दीखने वालों का वर्णन है, पर वास्तव में जो वैसे नहीं हैं बडे विरक्त माने जाते हैं क्योंकि कोई नाती, जाति नहीं है। बडे त्यागी हैं, क्योंकि न कोई घर हैं न कोई ठाट बाट। इन सब बातों से धोखा नहीं खाना चाहिए। जो देखने में तो वस्तुओं का परित्याग करते हैं, पर मन के भीतर उनकी ही चाह रखते हैं, वह वास्तव

में ढोंगी हैं, पाखंडी हैं। इस प्रकार के लोगों पर साधारण रूप में न केवल खेद ही प्रकट किया गया वल्कि "हा, हा" दो बार कह कर अतीव दुःख का संकेत किया गया है। क्यों ? इसलिए कि जो सीधे-सीधे विषयों की चाह करते हैं, उनके लिए चेष्टा करते हैं और खुलेआम उनका उपयोग भी करते हैं, वह दूसरों को धोखे में तो नहीं रखते कि वह क्या हैं और क्या नहीं हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनका चलन अच्छा है। वरन् ऐसे पाखंडियों पर हजार-हजार धिक्कार है जिन्होंने लंगोटी भी लगाई है, भभूत भी रमायी है, फिर भी सदा लोगों को ठगने की टोह में रहते हैं, जिन्हें स्वादिष्ट भोजन भी चाहिए, भांग चरस भी चाहिए, जो शराब और माँस भी नहीं छोड़ते और सदा कामिनी-कांचन पर आँख गाड़े रहते हैं। इसका यह मतलब भी नहीं है कि जो सचमुच त्यागी हों और जो खाने-पीने में रुचि नहीं दिखाते वह सब ढोंगी हैं। सच तो यह है कि साधु को इन बातों के लिए मन के भीतर भी चाह नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार साधारण गृहस्थ खाते-पीते-भोगते हुए विरक्त भी हो सकते हैं। दोनों ही दशाओं में भावना प्रधान है, ऊपरी वेष-भूषा नहीं।

श्लोक १६

स्तनौ मांसग्रन्थी कनक कलशा वित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम्
स्रवन्मूत्र क्लिन्नं करिवर शिरः स्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कवि जन विशेषैर्गुरु कृतम्।

पदच्छेद

कनक कलशा वित्युपमितौ = कनक कलशौ + इति + उपमितौ
श्लेष्मागारं = श्लेष्म + आगारम्
मुहुर्निन्द्यं = मुहुः + निन्द्यम्
विशेषैर्गुरु = विशेषैः + गुरु
स्रवन्मूत्र = स्त्रवत् + मूत्र

पदान्वय

स्तनौ मांस ग्रन्थि कनक कलशौ इति उपमितौ
मुखम् श्लेष्मागारम् तदपि शशांकेन तुलितम्
जघनम् स्त्रवत् मूत्र क्लिन्नम् करिवर शिरः स्पर्धि
मुहुः निन्द्यम् रूपम् कविजन विशेषैः गुरु कृतम्

शब्दार्थ

स्तनौ	= स्त्रियों की छातियां	स्त्रवत्	= टपकने वाले
मांसग्रन्थि	= मांस के लोथडे हैं (किंतु)	मूत्र	= मूत से
कनक कलशौ इति	= सोने के कलश कहकर	क्लिन्नम्	= भीगा रहता है (तोभी उसे)
उपमिति	= उपमा दी गयी है तुलना की गयी है	करिवर	= उत्तम हाथी के
मुखम्	= मुख	शिरः	= सिर से
श्लेष्म आगारम्	= कफ का घर है	स्पर्धि	= होड़ लेने वाली (कहा है)
तदपि	= तो भी	मुहुः	= बारम्बार
शशांकेन	= चन्द्रमा से	निन्द्यम् रूपम्	= निंदनीय रूप को
तुलितम्	= तुलना की गयी है	कविजन विशेषैः	= विशेष कवियों द्वारा
जघनम्	= जांघ का ऊपरी भाग, कटि प्रदेश	गुरु	= बड़ा, श्रेष्ट
		कृतम्	= बना दिया गया है

भावार्थ

स्त्रियों की छातियां वास्तव में निरे मांस के लोथडे हैं, किंतु कवियों ने उन्हें सोने के कलश कहा। उनके मुंह में सदा लार–खखार भरा रहता है, किंतु उसे चन्द्रमा कहा। जांघ से सदा मूत्र टपका करता है, किंतु उसे मस्त हाथी का माथा कहा। स्त्री के सौन्दर्य में उसका प्रत्येक पहलू घृणास्पद ही हो सकता है, किंतु कवियों ने झूठ ही उसे मनोहर मान रखा है।

विरक्त पुरुष के सम्बन्ध में कहते हुए पिछले श्लोक में बताया था कि यदि दिल में विरक्ति न हो तो ऐसा विरक्त पुरुष वास्तव में साँसारिक ही है, बल्कि उससे भी गया बीता है। इस श्लोक में साँसारिक प्रवृत्ति के भ्रम का स्पष्टी करण किया गया है। सभी विषय अन्त में चल कर कामुकता ही में समाप्त होते हैं। इसलिए स्त्री ही को प्रधान मान कर उसके प्रति होने वाले मोह को मिटाने की चेष्टा की गयी है।

ऊपर के दोनों श्लोकों के और भी पहलू हैं। कामिनी और काँचन, यह दोनों आसक्ति के मुख्य कारण हैं। पिछला श्लोक काँचनासक्त लोगों को उद्देश करके कहा गया था। इस श्लोक में कामिनी-लोलुप लोगों को लक्ष करके कहा गया है। दोनों श्लोकों के अलग अलग लक्ष्य न होकर एक ही लक्ष्य भी हो सकता है। वैराग्य की ओर जाने वाले व्यक्ति की यह दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। पहले श्लोक में बाह्य त्याग की बात थी। उस दिखावटी त्याग को सच्चे त्याग में बदल जाने के बाद भी कामिनी के चक्कर में फँस जाने की सम्भावना है। काँचन का त्याग तो कुछ सरल है, पर कामिनी का त्याग अत्यन्त कठिन है। बडे-बडे तपोसम्पन्न पुरुष भी इससे बच नहीं पाये। इसलिए इन दोनों का यह क्रम रखा गया है। बहरहाल दोनों प्रवृत्तियाँ हैं, चाहे वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में हों अथवा एक ही व्यक्ति की यह भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हों। वैराग्य के लिए इन दोनों वासनाओं से विमुक्त होना आवश्यक है।

श्लोक १७

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्ध धारी हरः
नी रागेषु जनो विमुक्त ललना संगो न यस्मात्परः
दुर्वार स्मरबाण पन्नग विष व्याविद्ध मुग्धो जनः
शेषः काम विडंबितान्न विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः

पदच्छेद

देहार्ध = देह + अर्ध
दुर्वार = दुः + वार
विडंबितान्न = विडम्बितान् + न

पदान्वय

नी रागेषु जनः ललना संग विमुक्तः यस्मात् परः न
प्रियतमा अर्ध देहधारी हरः एकः रागिषु राजते
शेष जनः दुःवार स्मरवाण पन्नाग विष व्याविद्ध मुग्धः
काम विडम्बितान् विषयान् न् भोक्तुम् (क्षमः) न मोक्तुम् क्षमः ।

शब्दार्थ

नीरागेषु जनः	=	विरक्त लोगों में
ललना संग	=	स्त्री का संग
विमुक्त	=	त्यागने में
यस्मात् परः न	=	जिनसे बढ़ कर दूसरा कोई नहीं है
प्रियतमा	=	प्रेयसी के
अर्धदेह	=	आधे शरीर को
धारी	=	धारण करने वाले
हरः	=	महादेव जी
एकः	=	अकेले ही
रागिषु	=	प्रेमियों में
राजते	=	विराजते हैं
शेष जनः	=	बाकी लोग
दुः वार	=	रोकने में कठिन
स्मर बाण	=	कामदेव के बाण रूपी
पन्नग विष	=	सांप के विष से
व्याविद्ध	=	डॅसे हुए
मुग्धः	=	बे होश लोग
काम विडम्बितान्	=	कामुकता की विडम्बना मात्र करने वाले
विषयान्	=	विषयों को, शारीरिक सुखों को
न भोक्तुम् क्षमः	=	न भोगने की योग्यता रखते हैं (और)
न मोक्तुम् क्षमः	=	न त्यागने की ही शक्ति रखते हैं

भावार्थ

जिस शंकर भगवान ने अपनी प्रेयसी पार्वती को अपना आधा शरीर ही दे डाला, वास्तव में वही असली प्रेमी हैं। कामदेव को भस्म कर के स्त्री को पूर्णतया त्याग भी वही अकेले कर पाये हैं। इसलिए सब से बडे त्यागी, बैरागी भी वही हैं। बाकी सब लोग निरे दम्भी हैं। न वे भोगना ही जानते हैं और न त्यागना ही।

वास्तव में वे विषयों के शिकार बन जाते हैं। विषय उन पर वार करते हैं, घायल कर देते हैं और उन्हें निकम्मे कर डालते हैं। अर्थात् ये सब लोग एकदम निकम्मे हैं।

विशेषार्थ

इस श्लोक में पिछले दोनों श्लोकों का सुन्दर समन्वय है। पहले में रूप-धारी त्यागियों की पोल थी और दूसरे में नाम-धारी प्रेमियों की भूल बतायी थी। त्याग किस प्रकार का हो और प्रेम का क्या रूप हो, उसे इस श्लोक में बताया गया है। पर सुन्दरता यह है कि रागी और वैरागी दोनों के लिए एक ही आदर्श रखा है। वह है महादेव शिवजी का आदर्श। इसमें कई बातें हैं :-

प्रेम किया तो खुल्लम खुल्ला किया। अपने आधे शरीर को पार्वती का बना दिया। चोरी छुपी नहीं, लज्जा शंका नहीं। बच्चे देखेंगे, बड़े सुनेंगे, या संसार हंसेगा, इसका विचार एक दम नहीं।

प्रेम में त्याग होना चाहिए। आधा शरीर पार्वती का धारण किया, इसके माने हुए अपना आधा शरीर त्याग दिया, क्यों कि शरीर तो एक ही रहेगा, डेढ़ नहीं। केवल अर्द्धांगिनी कहने से काम न चलेगा। प्रेम का आधार त्याग है। बिना त्याग के प्रेम नहीं हो सकता। बिना त्याग का प्रेम स्वार्थ से भरा होता है। निरा स्वांग होता है। एक वेश्या या ऐयाश का प्रेम, प्रेम नहीं बल्कि शुद्ध स्वार्थ होता है, क्यों कि इसमें त्याग तो छूकर तक नहीं जाता। इसके विपरीत माता का प्रेम सच्चा प्रेम है, क्यों कि माता का प्रेम त्याग पर अवलम्बित होता है। पत्नी का प्रेम भी साधारणतया पुरुष की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता है। कारण इसका यह है कि भारतीय समाज में पुरुष के लिए स्त्री को त्याग ही त्याग की व्यवस्था है। कम से कम व्यवहार में तो यही है। इस प्रकार जो प्रेम है वास्तव में वह त्याग है। जितना अधिक प्रेम होता है उतना ही अधिक उसमें त्याग छिपा होता हैं। कौन किससे कितना प्रेम करता है, इसका अंदाजा इसी से लग सकता है कि कौन किसके लिए कितना त्याग करने को तैयार है।

जो त्याग है वह प्रेम भी है। मनुष्य में त्याग की भावना प्रेम से पैदा होती है। जहां जितनी अधिक मात्रा में त्याग होगा उतनी ही अधिक मात्रा में वहां प्रेम के दर्शन होंगे। साधु, संत आदि को रूखे कहना अन्याय है। मगर शर्त यह है कि वह संत हों, सच्चे विरक्त हों। प्रायः देखने में आता है कि

साधु संत सभी बच्चों से प्रेम करते हैं, सभी पशुओं की सेवा करते हैं। जो जितना बड़ा त्यागी होगा, उसके प्रेम का क्षेत्र उतना ही अधिक विस्तृत होगा। क्यों ? इसलिए कि त्याग स्वयम् प्रेम है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेम और त्याग परस्पर ओत-प्रोत हैं। एक हैं। भगवान शंकर इसके मूर्तिमान प्रमाण हैं।

इन सब बातों से हम एक अपूर्व निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जो सभी के ध्यान देने योग्य है। राग, विराग, भोग, त्याग, गृहस्थी तथा सन्यास प्रायः परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती हैं। किंतु ऊपर सिद्ध हो गया कि यह धारणा गलत है। वह परस्पर विरोधी नहीं वल्कि अभिन्न हैं और एक है। तब तो सन्यास और गृहस्थी भी एक ही होने चाहिए। कम से कम यह समझना तो भूल ही है कि सन्यासी घर नासेगा या गृहस्थी से मनुष्य का उद्धार नहीं होगा। सच्चे सन्यासी से किसी का घर बिगड़ नहीं सकता, क्यों कि उसके दिल में सच्चा प्रेम भरा होता है और अगर जरूरत पडे तो सच्चा सन्यासी बड़ा से बड़ा त्याग करके बिगड़ते घर को बचा लेगा। इसी कार अच्छे गृहस्थ का अंत भी कभी बुरा नहीं हो सकता, क्यों कि उसके घरेलू प्रेम की नींव भी त्याग पर जमी रहती है। सन्यासी में प्रेम छिपा रहता है और त्याग दिखायी देता है। गृहस्थी में प्रेम दिखायी देता है और त्याग छिपा रहता है। फिर भी सन्यासी को प्रेम के कार्य करने पड़ते हैं और गृहस्थी को त्याग के। किंतु अंत में दोनों एक हो जाते हैं, और एक ही परिणाम को प्राप्त होते हैं।

जब गृहस्थी और सन्यास में इतना निकट सम्बन्ध है तब तो उनकी शिक्षा-दीक्षा भी एक ही सी होनी चाहिए। जो शिक्षा-दीक्षा गृहस्थ के लिए लाभदायी होगी वही सन्यासी के लिए आवश्यकीय भी होगी। उदाहरण के लिए भगवद्गीता का उपदेश यदि सन्यासी के लिए श्रेयस्कर है तो वही गीता गृहस्थ के लिए भी मंगलकारी है। इसके विपरीत एक प्रकार की शिक्षा-दीक्षा न होने के कारण और परस्पर विरोधी समझे जाने के कारण विरक्त और गृहस्थ दोनों की ही हानि हुई है और हो रही है। यहां पर यह बात मानी हुई है कि अवस्था के अनुसार दोनों के कर्तव्यों और अधिकारों में स्वाभाविक भिन्नता रहेगी ही।

इतना होने के बाद श्लोक के अंतिम भाग की ओर भी ज़रा ध्यान दें। "शंकर भगवान के सिवा बाकी सब लोग, प्रेमी भी और त्यागी भी निकम्मे किस्म के हैं, भोगने त्यागने की शक्ति उनमें नहीं है, विषयों ने सांप बनकर

उन्हें डँस रखा है, और वे बेहोश पड़े हैं," इस प्रकार कहना कहांतक ठीक है ? इसमें कोई विचित्रता नहीं है । पीछे श्लोक ७ में "भोगानभुक्ता वयमेव भुक्ता" में जो बात कही गयी थी, उसी की यहां पर पुष्टि की गयी है । जिस प्रकार बेहोश मनुष्य हिल डुल नहीं सकता, अधिक से अधिक वमन आदि करता है, दूसरे लोग उसे जैसे चाहें उठाते बिठाते हैं, उसी प्रकार विषय इन्हें जिधर चाहें मोड़ा घुमाया करते हैं और यह पराधीन रहते हैं । इस प्रकार जब उनकी कर्तृत्व शक्ति ही नष्ट हो जाती हैं तब उनके द्वारा विषयों को स्वयं त्यागने या भोगने का सवाल ही समाप्त हो जाता है ।

श्लोक १८

अजानन् दाहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने
स मीनोऽप्यज्ञाना द्वडिशयुक्त मश्नातु पिशितम्
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जाल जटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोह महिमा ।

पदच्छेद

शलभस्तीव्र = शलभः + तीव्र
मीनोऽप्य ज्ञाना द्वडिशयुक्त मश्नातु = मीनः + अपि + अज्ञानात् + वडिशयुक्तम् + अश्नातु
विजानन्तोऽप्येते = विजानतः + अपि + एते
वयमिह = वयम् + इह
विपज्जाल = विपत् + जाल
कामानहह = कामान् + अहह

पदान्वय

शलभः दाहात्म्यम् अजानन् तीव्र दहने पततु
सः मीन अपि अज्ञानात् बडिश युतम् पिशितम् अश्नातु
इह एते वयम् विजानंतः अति विपत् जाल जटिलान्
कामान् न मुञ्चामः, अहह, मोह महिमा गहनः !

शब्दार्थ

शलभः	=	पतिंगे,	एते वयम्	=	यह हम (हैं कि)
दाहात्म्यम्	=	जलाने के स्वभाव को	विजानन्तः अपि	=	भली भांति जानते हुए भी
अजानन्	=	न जानकर	विपत् जाल	=	विपदाओं के जाल से
तीव्र दहने	=	तेज आग में	जटिलान्	=	जटिल बने हुए
पततु	=	पड़ते हैं	कामान्	=	वासनाओं को
सः मीन अपि	=	वह मछली भी,	न मुञ्चामः	=	नहीं छोड़ते हैं
अज्ञानात्	=	अनजान में	अहह	=	बड़े ही आश्चर्य की बात है,
बडिशयुत	=	कटिये में लगे	मोह महिमा	=	मोह की महिमा
पिशितम	=	मांस को	गहनः	=	घनी है, गम्भीर है,
अश्नातु	=	खाती है			
इह	=	इस संसार में			

भावार्थ

आग जलाएगी, यह न जान कर पतिंगे दहकते अंगारों पर टूट पड़ते हैं और जल कर राख हो जाते हैं। मछलियाँ भी अनजान में ही काँटे में मुँह देती हैं और काल के गाल में फँस जाती हैं। किन्तु मनुष्य तो भली भांति जानते हैं कि विषय–वासनाएँ घोर विपत्ति के कारण हैं। फिर भी मोह–वश उससे निकलने का नाम नहीं लेते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा था कि मनुष्य में भोगने या त्यागने की सम्पूर्ण योग्यता है ही नहीं। यदि है तो यह दोनों गुण समान रूप में वर्तमान हैं। फिर भी लोग अधिकतर भोग की ओर ही जाते हैं। इस श्लोक में भोग के विनाशकारी परिणामों का वर्णन दिया है। लोग इसे भली भांति जानते हैं, पर जानबूझ कर भी विनाश की ओर ही जाते हैं। इसका कारण है मोह अथवा भ्रम। मोह क्या है, आगे देखिए।

श्लोक १९

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीत मधुरं
क्षुधार्त्त श्शाल्यन्नं कवलयति मांसादि कलितम्
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतर मालिंगति वधूं
प्रतीकारं व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।

पदच्छेद

शुष्यत्यास्ये = शुष्यति + आस्ये
क्षुधार्त्तश्शाल्यन्नम् = क्षुधा + आर्तः + शालि + अन्नम्
माँसादि = माँस + आदि
कामाग्नौ = काम + अग्नौ
सुदृढ़तर मालिंगति = सुदृढतरम् + आलिंगति
व्याधेस्सुखमिति = व्याधेः + सुखम् + इति

पदान्वय

तृषा आस्ये शुष्यति शीत मधुरम् सलिलम् पिबति
क्षुधार्तः मांसादि कलितम् शालि अन्नम् कवलयति
कामाग्नौ प्रदीप्ते वधूम सुदृढतरम् आलिंगति
व्याधेः प्रतीकारम् जनः सुखम् इति विपर्यस्यति

शब्दार्थ

तृषा = प्यास से
आस्ये = मुख, गला
शुष्यति = सूखता है तो
शीत = ठंडा
मधुरम् = मीठा
सलिलम् = जल
पिबति = पीता है
क्षुधार्तः = भूख से पीड़ित
माँसादि कलितम् = माँस आदि से मिला हुआ पुलाव आदि
शालि अन्नम् = चावल का भात
कवलयति = खा लेता है
कामाग्नौ प्रदीप्ते = काम अग्नि के तीव्र होने पर

वधूम	= स्त्री से	प्रतीकारम	= तोड़ (इलाज) को
सुदृढतरम्	= जोर से	जनः	= लोग
आलिंगति	लिपट जाता है	सुखम इति	= सुख मान कर
व्याधेः	= रोगों के	विपर्यस्यति	= उल्टे सोचते हैं

भावार्थ

प्यास के सताने पर मनुष्य शीतल जल पी कर गला ठंढा करता है। भूख से पीड़ित होने पर स्वादिष्ट भोजन कर के आँतों को शांत करता है। काम वासना के जोर मारने पर प्रेयसी से लिपट जाता है। यह सब क्रियाएँ शारीरिक विकारों की तोड़ (चिकित्सा) मात्र है। पर लोग उल्टे उन्हें सुख समझ बैठे हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मनुष्य के विषयों में फँसने का कारण मोह है। मोह के माने हैं—हो कुछ, समझें कुछ और। इस श्लोक में साधारण उदाहरणों से सिद्ध किया गया है कि विषयों को सुख मान कर लोग कितनी बडी भूल करते हैं। खाना, पीना मैथुन करना प्राणि मात्र के सहज कर्म हैं। यदि सिद्ध हो जाए कि ऐसे सहज कार्य भी वास्तव में रोग ही हैं तो बाकी कामों के सम्बन्ध में विशेष कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यहाँ पर दो बातों पर विचार करने की जरूरत है, एक रोग और दूसरा इलाज। क्या भूख, प्यास और काम-वासना भी सचमुच में रोग हैं? शरीर में किसी प्रकार की वेदना होने का नाम ही तो रोग है। किसी का गला सूखने लगे, बोली बन्द होने लगे तो लोग घबड़ा जाते हैं। समझते हैं–कुछ हो गया, मर जाएगा। दवा करते हैं। गला साफ़ हो जाता है। बाक खुल जाती है। लोग कहते हैं कि दवा से चंगा हो गया। प्यास में क्या होता है? ठीक यही, पर यहाँ इलाज सरल है। पानी के दो घूंट से बीमारी भाग जाती है। परन्तु यदि पानी न दिया जाए तो क्या हो? ठीक वही जो पहले के रोगी का होगा। पीड़ा बढ़ती ही जाएगी। अन्त में एक ऐसी दशा आएगी कि शरीर से हाथ धोना पडेगा। स्पष्ट है कि प्यास भी सचमुच रोग है और पानी उसका इलाज। फिर लोग इस रोग (प्यास) को रोग क्यों नहीं मानते? कारण इसका ोग नहीं

बल्कि उसका इलाज है । इलाज सरल है इसीलिए बीमारी में यह बेपरवाही ; श्लोक में प्रत्येक इलाज यानी पानी, भोजन आदि के साथ अधिकाधिक विशेषण (शीतल, मधुर जल, माँसादि कालितम् शल्यन्नम् तथा सुदृढतर मालिंगनम्) लगा कर रोग तथा चिकित्सा का गुरुत्व सिद्ध किया गया है ।

इसी विषय पर दूसरे प्रकार से विचार करें । रोग की पहचान क्या है ? सिर दुखा, खांसी उठी, पेट में पीड़ा हुई या पैर में फोड़ा फूट निकला, लोग समझते हैं रोग हो गया है । दुख, दर्द, खाँसी, फोड़ा, खुद तो कहते नहीं कि हम रोग हैं । कहते हैं वह अंग जहाँ पर रोग होता है अर्थात् रोग नहीं बल्कि रोगी अंग बोलते हैं । नीरोग अंग कभी नहीं बोलते । हम महसूस भी नहीं करते कि हमें गला है, सिर है, पैर है या शरीर है । शरीर का महसूस होना ही रोग का चिन्ह है । शरीर का जो अंग महसूस होने लगे, समझ लेना चाहिए कि उसमें कोई रोग हो गया है । रोग बड़ा हो या छोटा, सबकी यही पहचान है । क्या रोग है, और उसका क्या इलाज है, इसकी जानकारी हमें बार-बार के अनुभव से ही होती है । हमें प्यास बार-बार लगती है और जब-जब प्यास लगे पानी पी लेते हैं । प्यास बुझ जाती है । इसे हम बीमारी नहीं समझते, क्योंकि इसका इलाज सरल है । सन्निपात या तपेदिक रोग रोज नहीं होता और इसका इलाज भी सरल नहीं है । इसलिए हमने इन्हें रोग समझा । अस्तु, शरीर के पूर्णतया स्वस्थ होने की पहचान यही है कि वह हमें महसूस ही न हो । जहाँ सारा शरीर या उसका कोई अंग महसूस होने लगे तो वहीं रोग है । यह है शारीरिक रोग ।

मनुष्य केवल शरीर ही का नहीं बना है । उसमें मन और आत्मा भी है । मन और आत्मा भी रोगी और स्वस्थ होते हैं । मानसिक तथा आत्मिक रोगों की पहचान क्या है ? अधिक न जा कर इतना ही समझ लें कि काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मानसिक रोग हैं । जब तक मनुष्य के भीतर इच्छाओं का तूफ़ान उठता रहे, प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति हो, अप्राप्त की आकांक्षा हो, बाधाओं से क्रोध उत्पन्न हो, बाधक से द्वेष करने लगे, तब तक समझना चाहिए कि वह मनुष्य मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं है और जिस मनुष्य में मन के भीतर भी इस प्रकार की भावनाएँ न हों—यह महसूस भी न हो कि यह मेरा है, वह उसका है, यह दोस्त है, वह दुश्मन है—समझना चाहिए कि उसका मन एकदम स्वस्थ है । आत्मिक स्वास्थ्य उससे भी ऊंची वस्तु है । मनुष्य

जब तक आत्मा परमात्मा की चर्चा करता रहे, उसके भीतर इस प्रकार के विचार वर्तमान हों, तब तक उसकी आत्मा अस्वस्थ ही है। जिस मनुष्य में आत्मा, परमात्मा, संसार या स्वर्ग की भावना एकदम न हो उसकी आत्मा एकदम स्वस्थ है।

अन्त में यह शंका रह ही जाती है कि इस शारीरिक मानसिक तथा आत्मिक स्वास्थ्य की प्राप्ति कैसे हो? यह तो असम्भव-सा है, क्योंकि शरीर के साथ भूख, प्यास लगी ही रहेगी—उसके लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटाना ही होगा—संसार में नित नये गुल खिलेंगे—हमें खुल खेलना ही होगा—यही जीवन है—जीवन को सुखी बनाना मनुष्य का धर्म है। मगर सच तो यह है कि इस 'सुख' के चक्कर में फँस जाना ही मोह है। इस मोह से बचने की जरूरत है। और इससे बचना बहुत सरल है। इसके लिए किसी विशेष साधना की जरूरत नहीं है। कोई अड़चन या किसी चीज़ की मनाही भी नहीं है। खूब खावें, खूब पीवें और मौज करें, पर सुख के विचार से नहीं बल्कि केवल शारीरिक धर्म मान कर करते जाएँ। जिस प्रकार साँस लेते छोड़ते हैं उसी प्रकार खावें पीवें भी। यह शरीर का धर्म है और इसी में शारीरिक स्वास्थ्य है।

शरीर और आत्मा के स्वास्थ्य को एक और उदाहरण से स्पष्ट कर दें। नदी में जल के समान रहना कि पानी आता जाए और निकलता जाय। यह शारीरिक स्वास्थ्य है। जल में मछली के समान रहना कि पानी में तो रहे पर पानी शरीर में लगे ना, यह मानसिक स्वास्थ्य है, और पानी में पानी के समान घुले-मिले रहना आत्मिक स्वास्थ्य है। इस प्रकार मोह से एकदम मुक्त हो जाने पर मनुष्य आप ही मुक्तात्मा हो जाता है।

श्लोक २०

तुंगं वेश्म सुताः सताम भिमताः संख्यातिगा स्संपदः
कल्याणी दयिता वयश्च नव मित्यज्ञान मूढो जनः
मत्वा विश्व मनश्वरं निविशते संसार कारागृहे
संदृश्य क्षण भंगुरं तदखिलं धन्यस्तु सन्यस्यति।

पदच्छेद

सताम भिमता:	=	सताम् + अभिमता:
संख्यातिगास्संपद:	=	संख्या + अतिगा: + संपद:
वयश्च	=	वय: + च
नवमित्यज्ञान	=	नवम् + इति + अज्ञान
विश्वमनश्वरं	=	विश्वम् + अनश्वरम्
तदखिलं	=	तत् + अखिलम्
धन्यस्तु	=	धन्य: + तु

पदान्वय

तुन्गम् वेश्म सताम् अभिमता: सुता: संख्या अतिगा: संपद: कल्याणी दयिता वय:च नवम् इति विश्वम् अनश्वरम् मत्वा अज्ञान मूढ: जन: संसार कारागृहे निविशते धन्य: तु तत् अखिलम् क्षण भंगुरम् संदृश्य सन्यस्यति

शब्दार्थ

तुंगम्	=	ऊंचा
वेश्म	=	महल (है)
सताम्	=	सज्जनों को
अभिमता:	=	इष्ट, पसंद
सुता:	=	पुत्र (हैं),
संख्या अतिगा:	=	अनगिनत
सम्पद:	=	सम्पत्ति है
कल्याणी	=	मंगलमयी, अनुकूल
दयिता	=	स्त्री (है),
वय: च	=	अवस्था, उम्र भी
नवम्	=	नयी है, जवान है,
इति	=	इस प्रकार
विश्वम्	=	संसार को, इन सब को,
अनश्वरम्	=	नाश रहित, स्थायी
मत्वा	=	समझ कर
अज्ञान मूढ: जन:	=	अज्ञान से मूढ बना हुआ मनुष्य
संसार कारागृहे	=	संसार रूपी बंदी गृह में
निविशते	=	जकड़ा रहता है।
धन्य: तु	=	धन्य जन तो
तत् अखिलम्	=	उन सब को
क्षण भंगुरम्	=	क्षण में नाश होने वाली, क्षणिक
संदृश्य	=	समझ कर
सन्यस्यति	=	त्याग देता है।

भावार्थ

"मेरी बडी कोठी खडी है, अपार सम्पत्ति है, सुन्दर सुशील स्त्री है, मैं खुद भी चढ़ती जवानी में हूँ," मूर्ख लोग इस प्रकार सोचा करते हैं और समझते हैं कि यह सब सदा यों ही बना रहेंगे। इस प्रकार वह संसार रूपी बंधनों में जकडे रहते हैं। संसार उनके लिए बन्दीगृह बन जाता है। कुछ एक ऐसे भी लोग होते हैं जो जानते हैं कि यह सब चार दिन की चांदनी है, देखते ही देखते सब चीजें चली जाएँगी। इसलिए वह उन्हें पहले ही त्याग देते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मोह के कारण मनुष्य संसार के जंजाल में फंस जाता है। पिछले श्लोक में सुखों को विशेषकर शारीरिक सुखों को रोग बतलाया था। उसी सिलसिले में मानसिक तथा आत्मिक रोगों की चर्चा की गयी थी। इस श्लोक में बताया है कि रोग निवारण की अनंत शक्ति उन औषधियों में भी नहीं है। कोई बीमार स्वस्थ हो जाने के बाद भी अस्पताल में पडे रहकर दाय या नर्स से सेवा लेने की चाह नहीं करेगा। चाहेगा भी तो कोई रहने नहीं देगा। इस लिए स्वयं ही छोड़ देना अच्छा है।

श्लोक के अंतिम पद पर थोड़ा सा विचार करना अच्छा है — "धन्य पुरुष घर, स्त्री, पुत्र तथा यौवन को त्याग देते हैं।" यहां पर यह शंका होती है कि इन वस्तुओं को त्यागने से मनुष्य धन्य होता है, अथवा जो धन्य हैं वे इन्हें त्यागते हैं? ठीक तो यही जान पड़ता है कि त्याग के बाद ही मनुष्य धन्य कहलाने का अधिकारी है। किंतु त्याग तो केवल बाहरी क्रिया है। यह भावना पहले दिल में ही पैदा होती है। वह पहले सब बातों को तौलकर निश्चित रूप से जान लेता है कि संसार क्षण-भंगुर है और यह सारी चीजे हमें छोड़ जाएँगी। यदि ये हम से अपने आप छूट जाएं तो हमें दुख होगा और यदि हम स्वयं इन्हें छोड़ दें तो मन को प्रसन्नता तथा शान्ति रहेगी। वास्तव में ऐसा मनुष्य उन वस्तुओं का उपयोग करते हुए भी उन्हें त्यागे रहता है। यह कहा जा सकता हैं कि धन्यता के अंकुर उसमें पहले से ही विद्यमान रहते हैं। इसके विपरीत यदि मन में चाह रही तो एक बार उन वस्तुओं को त्यागने के बाद भी दिल में उनकी चाह बनी रहने से मानसिक कष्ट होगा, बल्कि अपनी जल्दबाजी पर पश्चात्ताप

करेगा। इसलिए दिखावटी त्याग के कारण किसी को धन्य मानना गलत होगा। सच तो यह है कि आंखों से दिखाई पड़ने वाले त्याग का कोई महत्व ही नहीं है। महत्ता दिल की भावना का है। श्लोक के शब्दों से भी यही भाव निकलता है। घर, स्त्री, संतान के साथ यौवन का परित्याग कैसे संभव है? यौवन तो है और जब तक रहना है वह रहेगा। बल्कि सन्यासी का यौवन तो उसके नियमित जीवन तथा ब्रह्मचर्य के कारण और भी अधिक दिनों तक बना रहेगा। इसलिए यहां पर उनके त्यागने के अर्थ हैं—उनमें आसक्त न रहना और उनका दुरुपयोग न करना। अंत में दिल में भी त्याग भरा हो और देखने में भी उनका परित्याग किया जाए तो असली महत्व उसी का है।

द्वितीय दशक का सारांश

श्लोक नं. ११– पुण्यों से प्राप्त होने वाले सुख भी दुखदायी हैं।

१२– सुखों के परित्याग में ही सच्चा सुख है।

१३– सुखों को ही क्या उनकी लालसा का त्यागना भी ज़रूरी है।

१४– लालसा की व्यर्थता।

१५– लंगोटी लगाये भिखारी भी सुखों के स्वप्न देखते हैं।

१६– शरीर के सुन्दर अंग मांस के लोथडे और मल-मूत्र के घर हैं।

१७– त्याग तथा प्रेम अभिन्न और एक हैं।

१८– मोह त्याग में बाधक होता है।

१९– मोह वश ही रोग को सुख समझते हैं।

२०– (अ) मोह के हटने पर त्याग की सिद्धि होती है।
(ब) त्याग से मोह की निवृत्ति होती है।

इस प्रकार वैराग्य की दूसरी सीढी विषय-त्याग समाप्त होता है।

श्लोक २१

दीना दीन मुखैस्सदैव शिशु कैराकृष्ट जीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्न विधुरा दृश्या न चेद्गेहिनी
याच्ना भंग भयेन गद्गद गल तृटच्द्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत्स्वदग्ध जठर स्यार्थे मनस्वी पुमान्।

पदच्छेद

मुखैस्सदैव = मुखैः + सदा + एव
शिशुकैराकृष्ट = शिशुकैः + आकृष्ट
क्षुधितैर्निरन्न = क्षुधितैः + निरन्न
जीर्णाम्बरा = जीर्ण + अम्बरा
चेग्देहिनी = चेत् + गेहिनी
तृटच्द्विलीनाक्षरं= तृटचत् + विलीन + अक्षरम्
कोदेहीति = कः + देहि + इति
वदेत्स्व = वदेत् + स्व
जठरस्यार्थे = जठरस्य + अर्थे।

पदान्वय

सदा एव दीन मुखैः क्षुधितैः क्रोशद्भिः शिशुकैः आकृष्ट जीर्णाम्बरा दीना निरन्न विधुरा गेहिनी दृश्या न चेत्,
कः मनस्वी पुमान् स्वदग्ध जठरस्य अर्थे याच्ना भंग भयेन गद् गद् गल तृटचत् विलीन अक्षरम् देहि इति वदेत्

शब्दार्थ

सदा एव	= हमेशा ही	शिशु	= बच्चों द्वारा
दीन मुखैः	= मुंह लटकाये हुए	आकृष्ट	= पकड़े खींचते हुए
क्षुधितैः	= भूखे	जीर्ण अम्बरा	= फटे चीर वाली
क्रोशद्भिः	= बिलखते हुए,	दीना	= दीन

निरन्न विधुरा	=	बिना अन्न के बेताब	याच्ना भंग भयेन	=	मांग के न पूरा होने के भय से, जबान खाली जाने के डर से
गेहिनी	=	गृहणी, स्त्री			
दृश्या न चेत्	=	दीख न पडे (तो)			
कः	=	कौन	गद्गद्गल	=	गद् गद् गले में
मनस्वी	=	बुद्धिवान, स्वाभिमानी	तृटच्यत्	=	टूटते हुए,
			विलीन	=	भीतर ही बैठ जाने वाले
पुमान्	=	पुरुष			
स्व	=	अपने	अक्षरम्	=	शब्दों से
दग्ध जठरस्य अर्थे	=	जलने वाले पेट के लिए	देहि इति	=	दीजिए, (ऐसा)
			वदेत्	=	कहेगा।

भावार्थ

भूख से बिल्लाते बच्चे जिस माँ की फटी पुरानी साडी को पकड़ कर खींचते हुए रो रहे हों और मां भी खुद भूख से बेताब हो, ऐसी स्त्री को यदि घर में देखना न पडे तो कोई ऐसा व्यक्ति न होगा जो अपना निजी पेट भरने के लिए किसी के सामने सवाल करने जाय, और वह भी जब कि सवाल करने से पहले ही दिल में यह दुविधा हो कि कहीं जबान खाली न जाय और इस डर से मुंह से शब्द भी ठीक से न निकलें, अर्थात् घर में बच्चों और स्त्री की यह दुर्दशा देख नहीं सकता, इस लिए अपने अपमान का ध्यान न कर औरों से मांगने पर मजबूर हो जाता है।

विशेषार्थ

पिछले दशक (दस श्लोकों) में विषयों को त्यागने की शिक्षा दी गयी थी। किन्तु त्याग से मतलब साधारणतया गृहस्थी छोड़ने तथा भभूत रमाने और भीख माँग कर जीवन बिताना ही समझा जाता है। इस दशक में इसी भ्रम को दूर करने के लिए भिक्षा वृत्ति की निन्दा की गयी है और बताया गया है कि जीवन-निर्वाह का क्या उपाय करना चाहिए। इस श्लोक के अन्दर उससे भी आगे बढ़ कर सिद्ध किया गया है कि भीख माँगने वालों की निन्दा करना, उन्हें घृणा से देखना स्वयं निन्दनीय प्रवृत्ति है। इस लिए भीख माँगने वालों को भी हार्दिक सहानुभूति का अधिकारी बताया गया है।

कोई व्यक्ति यों ही झोली लटकाये घर से निकल नहीं पड़ता। उससे पहले उसे अनेकों असहनीय कष्टों को झेलना पड़ता है। कई साल हुए उसने अपनी स्त्री के लिए कोई नया कपड़ा नहीं खरीदा है। उसके शरीर पर लज्जा ढकने के लिए एक पुराना चिरकुट मात्र है। पेट भरना क्या है, वह वर्षों से नहीं जानती। सूख कर कांटा हो गयी है। जवान चमड़ी पर बुढ़ापे की झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। जब स्त्री की यह दशा है तब तो पुरुष की इससे भी बुरी दशा होगी। बेचारा चूतड़ छिपाने को लत्ता कहाँ पाएगा। लंगोटी पर गुँज़ार लेता है। रात में भूखा सोता है और दिन में कष्ट भोगता है। फिर भी किसी से माँगने का नाम नहीं लेता। गरीबी में बच्चे भी बहुत होते हैं। इसे लोग ईश्वर का कोप समझते हैं। यह भी एक झूठी कल्पना है। भिन्न-भिन्न देशों के आंकडों को देखने से स्पष्ट है कि जो देश जितना अधिक गरीब होता है वहाँ पर जन्म संख्या उतनी ही अधिक होती है और मरते उससे भी अधिक हैं—पर्याप्त भोजन न पाने के कारण। हमारे इस गरीब भाई के भी बच्चे बहुत हैं। मियाँ-बीबी दोनों ही पेट पर पत्थर बाँधे सोते हैं। पर इन नन्हें-नन्हें बच्चों को कैसे देखते रहें जो नंगे हैं, भूखे हैं, भूख से बिल्लाते हुए—"अम्मा-रोटी, अम्मा रोटी" कहते हुए साडी से लटके पड़े हैं। माँ क्या करे? रोती है। सिर पीटती है। बच्चों को भी पीटती है! और बाप! बेचारा कभी माँगा नहीं है। जो माँगने में मझे हुए हैं वह भी, हो सकता है, इसी दशा से गुजरे हों। वह घर से बाहर निकलता है। बाज़ार के एक कोने से दूसरे कोने तक निकल जाता है। किसी से कुछ नहीं कहता। सिर नीचा करके चुप चाप चला जाता है। खाली हाथ घर लौटता है। दूसरे दिन फिर निकलता है। बहुत हिम्मत कर के आज केवल चीजों की ओर लालच भरी दृष्टि से देखता है। किसी से कुछ नहीं कहता। खाली हाथ ही घर लौटता है। इस तरह कुछ दिन बीत जाते हैं। फिर सोचता है—शहर में भले आदमी कौन-कौन हैं। उनमें भी सबसे बडे भले आदमी के दरवाजे पर जाता है। मुँह से बोली नहीं निकलती। डरता है, इज्जत भी जाएगी, बात भी न रहेगी। उधर वह भला आदमी—शहर भर में सबसे बडे भले आदमी! इसके साथ कोई शिष्टता नहीं बरतता। देखते ही भवें तान लेता है। बोल न चाल, भवें क्यों तनीं? हमारे 'भले आदमी' खूब जानते हैं कि यह क्यों आया है। पर उनके हृदय में सहानुभूति का नाम नहीं है। वह 'बडे आदमी' नहीं समझते कि यह भिक्षार्थी उससे भी कहीं बड़ा स्वाभिमानी है। अपने पेट के लिए वह आपके पास कभी न आता। भूखों मर जाता, पर भीख न माँगता। विष ले कर आत्म-हत्या कर लेता। पर किसी के

दरवाजे न जाता। किन्तु यहाँ पर अकेले भूखे रहने या विष खा कर मरने की बात नहीं है। अपने स्त्री बच्चों के साथ भी यही करना है। भूखे भी काफी रखा, पर अब उन्हें भूखे मार नहीं सकता। उसके सामने दो ही रास्ते हैं। एक, बाल-बच्चों का पेट भरने के लिए दूसरों का धन चुराना, बलात् छीन लेना, अपने बाल-बच्चों के प्राण बचाने के लिए दूसरों के प्राण भी लेने पड़ें तो ले लेना। परन्तु समाज उसे चोर, डाकू, हत्यारा कहता है। हालाँकि समाज ने स्वयं उसे वैसा बनाया है। इन 'चोर' 'डाकू' 'हत्यारा' के पीछे यह करुण कहानी है।

कारण कुछ हों, किन्तु साधन बुरे हैं, इसलिए श्लोक में उस सम्बन्ध में मौन रह कर दूसरे मार्ग की ही चर्चा की गयी है। इतनी करुण कहानी के जानते हुए भी अधर्म का मार्ग नहीं सुझाया गया। कोई कह सकता है कि मिहनत करे और बाल-बच्चों को पाले। जानना चाहिए कि धनोपार्जन के लिए परिश्रम के साथ अन्य साधन भी चाहिए। पर यहाँ ध्यान रहे कि यह बात वैराग्य के विद्यार्थी के सम्बन्ध में कही गयी है—ऐसे विद्यार्थी के सम्बन्ध में जिसने तृष्णा को छोड़ा है, त्याग की सीढ़ियों पर चढ़ चुका है। उसकी वास्तविक दशा से हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हुए जो बात कही जाएगी, वह निश्चय ही उसके मन में पैठ जाएगी। इस प्रकार भिक्षा-वृत्ति से मुँह मोड़ने की चेष्टा की गयी है।

हमारा देश पहले समृद्धशाली था, यहाँ दूध, घी की नदियाँ बहा करती थीं, इस प्रकार कहनेवालों को दो हज़ार वर्ष पूर्व कालीन भारत के इस चित्र की ओर ध्यान देना चाहिए। साधन सम्पन्न लोगों की तो सदा से ही मौज रही है। दुःख तो उन अभागों के लिए है, जिन्हें सम्पन्न और समृद्ध देश में भी दाने-दाने को तरसना पड़ता है। इससे भी हज़ारों वर्ष पहले श्रीकृष्ण भगवान के दिनों में सुदामा रहे—वह सुदामा जो कृष्ण भगवान के गुरुभाई और लंगोटिया यार थे—उनकी भी यही दशा थी।

श्लोक २२

अभिमत महामान ग्रन्थि प्रभेद पटीयसी
गुरुतर गुण ग्रामांभोज स्फुटोज्जवल चंद्रिका
विपुल विलसल्लज्जावल्ली वितान कुठारिका
जठर पिठरी दुष्पूरेयम् करोति विडम्बनम् ।

पदच्छेद

गुणग्रामाम्भोज = गुणग्राम + अम्भोज,
स्फुटोज्ज्वल = स्फुटः + उज्ज्वल
विलसल्लज्जा = विलसत् + लज्जा
दुष्पूरेयम् = दुः + पूर + इयम्

पदान्वय

जठर पिठरी अभिमत महामान ग्रन्थि प्रभेद पटीयसी
गुरुतर गुणग्राम अम्भोज स्फुट उज्ज्वल चंद्रिका
विपुल विलसत् लज्जावल्ली वितान कुठारिका
इयम् दुष्पूर (जठर पिठरी) विडम्बनम् करोति

शब्दार्थ

जठर पिठरी	= पेट का पिटारा	अम्भोज	= कमल के लिए
अभिमत	= सम्मानित, इष्ट	स्फुट	= खूब फैली हुई
महा	= बड़े	उज्ज्वल	= उजाली
मान ग्रन्थि	= स्वाभिमान के गाँठ को	चन्द्रिका	= चांदनी (है),
		विपुल	= खूब
प्रभेद	= तोड़ डालने में	विलसत्	= प्रकाशमान
पटीयसी	= पटु (है),	लज्जा वल्ली	= लज्जा रूपी लता के
गुरुतर	= बहुत भारी	वितान	= हरी छप्पर के लिए लता कुंज के लिए
गुणग्राम	= गुणों के समूह (रूपी)	कुठारिका	= कुल्हाडी (है),

इयम्	= यह	जठर पिठरी	= पेट की कुंडी
दुष्पूर	= कभी न भरने वाली	विडम्बनम् करोति	= ढोंग करती है।

भावार्थ

पेट मनुष्य के उचित स्वाभिमान को चकना चूर कर डालता है। जिस प्रकार चाँदनी सुंदर कमलों को सिकोड देती है उसी प्रकार यह पेट मनुष्य के सद्गुणों को नष्ट कर देता है। लज्जा रूपी लता को कुल्हाडी के समान काटकर फेंक देता है। यह पेट कभी भरने का नाम नही लेता। लालच बढता ही रहता है। इसलिए नित नये ढोंग रचा करता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भिक्षार्थियों से सच्ची सहानुभूति प्रकट करने के बाद यहां एक पग आगे बढ़ गया है। भिक्षा बुरी क्यों हैं? यही इसमें बताया गया है। साफ साफ कहा है—बाबा! पेट बडा ढोंगी है, सदा बहाना-बाजी किया करता है, धोखा देता है, इसके चक्कर में पडकर मनुष्य अपनी मान-मर्यादा खो बैठता है जिससे उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है, उसके गुणों पर पानी फिर जाता है और वह एकदक बेहया बन जाता हैं। यहां पर इस बात की ओर इशारा है कि असल कारण पेट न भरने का पिछले दशक की 'तृष्णा' है। यहां पर पेट से मतलब बित्ते भर का पेट नहीं है। इसीलिए कहा गया हैं कि तृष्णा का त्याग करना चाहिए, पर भिक्षा वृत्ति या नीचों की सेवा नहीं करनी चाहिए। बल्कि जीवन-निर्वाह का कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे पेट भी भरे और शील लज्जा तथा स्वाभिमान की रक्षा भी हो।

श्लोक २३

पुण्यग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्न पाली कपालीम्
ह्यादाय न्याय गर्भ द्विजहुत हुतभुग्धूमधू म्रोपकण्ठे
द्वारं द्वारं प्रविष्टो वर मुदरदरी पूरणाय क्षुधार्त्तो
मानी प्राणैस्सनाथो न पुनरनुदिनं तुल्य कुल्येषु दीनः।

पदच्छेद

सितपटच्छन्न	=	सितपट + अच्छन्न
ह्यादाय	=	हि + आदाय
हुतभुग्धूम	=	हुतभुक् + धूम
धूम्रोपकण्ठे	=	धुम्र + उपकंठे
वरमुदर	=	वरम् + उदर
क्षुधार्तः	=	क्षुधा + आर्तः
पुनरनुदिनम्	=	पुनः + अनुदिनम्
प्राणैस्सनाथो	=	प्राणैः + सनाथः

पदान्वय

न्यायगर्भ द्विज हुतभुक् धूम धूम्र उपकण्ठे पुण्यग्रामे वा महति वने क्षुधार्तः उदरदरीं पूरणाय सितपटच्छन्न पालीम् कपालीम् हि आदाय द्वारम् द्वारम् प्रविष्ट प्राणैः सनाथः वरम् पुनः मानी अनुदिनम् तुल्य कुल्येषु दीनः न वरम्

शब्दार्थ

न्यायगर्भ	=	शास्त्रों के अनुसार	पटच्छन्न	=	कपडे से ढके
द्विजहुत	=	ब्राह्मणों द्वारा हवन किये गये	पालीम	=	किनारोंवाली
हुतभुक् धूम	=	अग्नि के धुएं से	कपालीम् हि	=	करवा को ही
धूम्र उपकंठे	=	आसपास धुंध पडे हुए	आदाय	=	लेकर
पुण्य ग्रामे	=	पवित्र गांव में	द्वारम् द्वारम्	=	दरवाजे, दरवाजे
वा महति वने	=	या बडे बन में	प्रविष्ट	=	जाकर, प्रवेश करके
क्षुधार्त्तः	=	भूख से पीड़ित मनुष्य	उदर दरीम	=	पेट रूपी खोह को
उदर दरी	=	पेट के खोह को	पूरणाय	=	भरना
पूरणाय	=	भरने के लिए	वरम्	=	उत्तम है
सित	=	सफेद	पुनः	=	पर, किंतु
			मानी	=	स्वाभिमान व्यक्ति को

अनुदिनम्	= आये दिन	तुल्य कुल्येषु	= बराबरी के बिरादरी में
प्राणैः सनाथ	= प्राण रहते हुए, जीते जी	दीन	= दीन होकर (रहना)
		न वरम्	= अच्छा नहीं है।

भावार्थ

किसी स्वाभिमान व्यक्ति को अपने बराबर वालों के बीच रह कर अपमानित होते रहना उचित नहीं है। उससे कहीं अच्छा यह हैं कि किसी ऐसी बस्ती या वन में जा बसे, जहां पर सदा यज्ञ. हवन हुआ करते हैं, और पेट भरने के लिए साफ कपडे से ढके करवा हाथ में ले कर घर घर भीख मांगे और इस प्रकार दिन बिताए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मांगने से मनुष्य बेहया बनता है। उसके सुशील स्वभाव की मर्यादा जाती रहती है। इस श्लोक में कहता है कि यदि किसी को भीख मांगनी ही पडे या जो किसी कारण से कोई धंधा न करना चाहे तो भी उसे अपने स्वाभिमान की रक्षा करनी ही चाहिए। यह बात बराबर वालों के बीच में रहकर करना प्रायः असंभव है। दूसरे लोग क्या सोचते होंगे, इसका विचार छोड़ भी दें तो भी स्वयं अपने को ग्लानि होती है। दूसरों के हाथों से अपमानित न होने पर भी भीतर ही भीतर मन कुढ़ा करता है। इस लिए उस स्थान को छोड़ना ही अच्छा है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अनजान लोगों के हाथों अपनी दुर्गति करा लेने में कोई बुराई नहीं है। साधारणतया जो घर से निकल पड़ते हैं वे जहां चाहें खाते और जो चाहे करते हैं। यह महान मूर्खता है। भीख की भी यहाँ विधि बतायी गयी है। स्वयं शुद्ध रहें और शुद्धात्माओं के हाथ की ही भिक्षा लेवें। भिक्षा पेट भरने मात्र के लिए हो, अधिक न हो।

दान देने के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि पात्रापात्र का विचार रखना चाहिए। इस श्लोक में इस धारणा पर भी चोट की गयी है। दान लेना भी सुपात्र ही के हाथ का चाहिए, कुपात्र का नहीं। इसका यह अभिप्राय भी होता है कि जो भिक्षार्थी की मर्यादा नहीं जानते वे स्वयं भी सम्मान के अधिकारी नहीं हैं। कुपात्रों को देने में पाप है तो कुपात्रों से लेने में भी पाप है।

देनेवाला चाहे जैसा हो, यदि उसका दान सुपात्र के हाथ में जाए तो पाप कैसे ? इस पर किसी गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता नहीं है। कुयोग्य दानी को उसके सुपात्र दान की प्रतिष्ठा मिलने के साथ-साथ यह भी आशंका है कि दानी के पाप-मूलक कार्यों के छिपाने में यह सुपात्र सहायक होंगे। प्रायः यह भी होता है कि अनजान में भी दान लेनेवाले इसमें सहायक बन जाते हैं, बल्कि उसका विज्ञापन करते हैं। यह पाप नहीं तो और क्या है ? जब बात ऐसी ही है तब कोई दान देवे ही क्यों ? हाँ देंगे और देना चाहिए। इस लिए कि कम से कम उतना धन और उतना समय तो पाप कार्य में न लगे और यह कार्य आगे शुभ कार्यों के लिए प्रेरक बनें। शुभ कार्यों में खर्च करना उसका कर्तव्य है। धन कई लोगों की मिहनत से पैदा होता है। इसलिए जहाँ धन एकत्र हो उसे कई लोगों में बँट जाना भी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसे कार्यों में अपना धन, सम्पत्ति नहीं देता वास्तव में वह चोर है, क्योंकि दूसरे के हक को वह खुद हड़प कर जाता है। इसलिए खुले हाथों सुपात्र को दान देनेवाला पाप से बचता है। किन्तु दान पाने के अधिकारी सभी कोई नहीं हैं। जिसका जीवन यज्ञमय हो, वही दान पाने का अधिकारी है। उसे पाप छू तक नहीं सकता क्योंकि दान का सारा धन यज्ञ में ही स्वाहा हो जाता है। साधारण भिक्षा पर निर्वाह करने वालों के लिए ऐसे ही यज्ञशील व्यक्तियों से भिक्षा लेने की विधि बतायी गयी है।

तो क्या हवन आदि करनेवालों के यहाँ आदर सत्कार होता है ? हाँ। हवन आदि को विधि-पूर्वक करनेवालों के लिए यह विधि है कि यज्ञ से बचा हुआ ही खावें। अतिथि अभ्यागत की पूजा भी उसमें शामिल है। 'यज्ञ' को यहां पर व्यापक अर्थों में लेना चाहिए। संकीर्ण अर्थ करने से सारा मतलब खब्त हो जाएगा। अच्छा, वह तो हुए दान देने के लिए योग्य व्यक्ति, अब दान लेने योग्य कौन है ? दान के पात्र भी यज्ञ करनेवाले ही हैं, अन्य नहीं। फिर इन माँग खानेवालों का क्या होगा ? क्या पुण्यात्माओं के हाथ का कौर खावेंगे तो तर जावेंगे ? इस प्रकार की धारणा भी गलत है। श्लोक में स्पष्ट कहा है कि माँग खाना केवल पेट का 'खोह' भरने के लिए है, केवल जीवन बिताने के लिए है। इसमें कोई पुरुषार्थ नहीं है। अधिक से अधिक इतना कह सकते हैं कि इसमें पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है। किन्तु इससे जीवन सार्थक कभी नहीं हो सकता।

श्लोक २४

गंगातरंग कण शीकर शीतलानि
विद्याधरा ध्युषित चारु शिला तलानि
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमान पर पिण्डरता मनुष्याः ।

पदच्छेद

विद्याधराध्युषित = विद्याधर + अध्युषित
यत्सावमान = यत् + स + अवमान

पदान्वय

गंगातरंग कण शीकर शीतलानि
विद्याधर अध्युषित चारु शिला तलानि
हिमवतः स्थानानि प्रलयम् गतानि किम्
यत् मनुष्याः स अवमान पर पिण्ड रताः

शब्दार्थ

गंगा तरंग	= गंगाजी की लहरों के	हिमवतः स्थानानि	= हिमालय के स्थान
कण शीकर	= छीटों की फुहार से	प्रलयम् गतानि किम्	= विनष्ट होगये क्या
शीतलानि	= ठंडाये हुए (तथा)	यत्	= जो, जिसके कारण
विद्याधर	= देवता अथवा विद्वानों से	मनुष्याः	= लोग
अध्युषित	= विराजने वाले	स अवमान	= अपमान के साथ
चारु	= सुन्दर	पर पिण्ड	= पराये कौर या टुकड़े के लिए
शिला तलानि	= चट्टानों वाले	रताः	= लालायित रहते हैं

भावार्थ

क्या हिमालय पर्वत के वह स्थान एकदम नष्ट हो गये, जहां गंगा जी सदा झर झराती रहती हैं और जिसकी फुहारों से वह स्थान

सदा शीतल बने रहते हैं, तथा वह बडी बडी चट्टानें जिन पर देवता लोग भी विराजा करते हैं, एकदम विनष्ट होगये ? फिर क्यों लोग इस अपमान कारक पराये कौर के लिए लालायित रहते हैं ?

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में एक प्रकार से भिक्षा-वृत्ति की सम्मति दी गयी थी, किन्तु उसे श्रेष्ट कदापि नहीं कहा गया। इस श्लोक में यही बताया गया है कि भिक्षा माँगने की अपेक्षा कौन-सा काम उत्तम होगा ? एक ओर हिमालय पर्वत पर गंगा के किनारे किसी मनोहर स्थान पर बैठ जाना, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जो सदा से हैं और सदा बने रहेंगे, कम से कम जब तक मनुष्य रहेगा तब तक वह भी बने रहेंगे। दूसरी ओर घर-घर भीख माँगना और पग-पग पर अपमान सहना है। इसीलिए इस श्लोक में एकदम झुंझला कर कहा है—क्या गंगा जी के तटवर्ती वह चट्टानें मिट गयीं, जो इन झूठे टुकडों के लिए लोग लार टपकाया करते हैं ? अर्थात् दर-दर ठोकरें खाना छोड़ कर सीधे हिमालय की ओर बढ़ना चाहिए। वहाँ पर एक ओर मान-हानि नहीं है तो दूसरी ओर मानसिक शान्ति का साम्राज्य है।

मनुष्य के लिए तीन चीजें जरूरी हैं—भोजन, छाजन और आसन। इन तीनों में पहला दरजा किसका है ? साधारणतया पेट के लिए खाना पहले, फिर तन ढाँकने के लिए कपड़ा और सब के बाद सिर छिपाने को जगह। किन्तु इस श्लोक में सबसे अन्तिम आवश्यकता को अव्वल स्थान दिया गया है। ऐसा क्यों ? वास्तव में यहाँ पर ऊपर की तीनों वस्तुओं में से किसी को भी प्रधानता नहीं दी गयी है, बल्कि एक चौथी ही व्यवस्था है। वह व्यवस्था है मानसिक शान्ति की जिसके बिना बाकी सब बेकार हैं, और जिसके अभाव में न खाना ही अच्छा लगे, न कपड़ा और घर भी काटने दौडे। फिर वैराग्य में इसकी विशेषता और बढ़ जाती है। यज्ञ-हवन भजन-भाव वाले स्थानों में एकांत वास की अधिक महत्ता बतायी गयी है। तो क्या सबको हिमालय में जा बसना चाहिए ? नहीं, सभी लोग वहाँ नहीं जाएँगे। अगर जाएँ तो हिमालय भी वैसा ही हो जाएगा जैसा सारा देश। कहीं जाएं, उद्देश्य तो रमणीयता तथा एकान्त का है। देश भर में नदी, नाले, झरने, पुखरे आदि जगह-जगह हैं। जहाँ रम जाएँ उसी स्थान को रमणीक बना लें। देश के किसी भी स्थान में जहाँ किसी साधु-सन्त की कुटिया या आश्रम दीख पड़ता है वहाँ चारों तरफ के दृश्य में

अपना अनोखा-पन होता ही है। यही उन सन्तों का मनोहर हिमालय है। इसी प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। हरा-भरा दृश्य है, शीतल-छाया है, ठंडा-जल है, सुन्दर कुटी है और उसमें-शान्ति और सुख है।

माना कि ऐसे व्यक्तियों के लिए खाना-पीना गौण है, पर उसका भी तो कुछ होना ही चाहिए। सो इसकी चर्चा अगले श्लोक में है।

श्लोक २५

किं कन्दा कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफल भृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमपगत प्रश्रंयाणां खलानां
दुःखात्प स्वल्प वित्तस्मय पवन वशान्नर्तित भ्रूलतानि।

पदच्छेद

प्रलयमुपगता = प्रलयम् + उपगता
वल्कलिन्यश्च = वल्कलिन्यः + च
प्रसभमपगता = प्रसभम् + अपगता
दुःखाप्त = दुःख + आप्त
वशान्नर्तित = वशात् + नर्तित

पदान्वय

कन्दरेभ्यः कन्दाः प्रलयम् उपगता किम्, गिरिभ्यः निर्झराः वा, तरुभ्यः सरस फल भृताः च, वल्कलिन्यः, च शाखाः प्रध्वस्ता, यत् प्रसभम् अपगत प्रश्रयाणाम् खलानाम् दुःख आप्त अल्प वित्त स्मय पवन वशात् नर्तित भ्रलतानि मुखानि वीक्षन्ते

शब्दार्थ

कन्दरेभ्यः	= (क्या) पहाडों की कंदराओं में	कन्दाः	= कन्दमूल आदि
		प्रलयम्	= विनाश को

उपगता	= प्राप्त हो गये,	अपगत	= छूटे हुए
गिरिभ्यः	= पहाड़ों में	प्रयश्राणाम्	= विनयवाले, (अर्थात् घमंडी)
निर्झरा वा	= झरने भी	खलानाम्	= नीचों के
प्रलयम् उपगता	= नष्ट हो गये,	दुःख आप्त	= कठिनता से प्राप्त किये हुए
वा	= या	अल्प वित्त	= थोडे से धन के
तरुभ्यः	= पेडों में	स्मय	= घमंड की
सरस फल	= रस भरे फलों को	पवन वशात्	= हवा के कारण
भृताः	= धारण करने वाले	नर्तित	= नःचने वाले
च	= और	भ्रूलतानि	= लता जैसी भवें वाले
वल्कलिभ्यः	= छाल या बक्कल वाले	मुखानि	= मुखों को
शाखाः	= शाखायें, डालियां	वीक्षन्ते	= देखते हैं, ताकते हैं।
प्रध्वस्ता	= ध्वंस होगये,		
यत्	= जो, जिसकारण		
प्रसभम्	= एकदम		

भावार्थ

क्या पहाडी खोहों के कंदमूल खत्म हो गये ? क्या वहां के झरने सूख गये ? क्या जंगलों में पेडों का फलना फूलना बन्द हो गया ? क्या उनकी डालों पर हरी हरी छाल नहीं रही ? फिर क्या कारण है कि लोग ऐसे नीचों का मुंह ताका करते हैं जिन्हें बहुत सी कठिनाइयों के बाद थोड़ा सा धन मिलते ही इतना घमंड हो गया है कि सदा उनके तेवर चढे ही रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि पहाडी प्रदेश बडे रमणीक तथा शान्ति प्रद होते हैं। विरक्तों को दूसरों के दरवाजे पर न जा कर पहाडों और जंगलों में ही जा बसना चाहिए। इस श्लोक में बताया है कि वहाँ पर खाने पीने की भी कमी नहीं है। जंगल कंदमूल आदि से भरे पडे हैं। पहाडी झरनों में स्वच्छ तथा शीतल जल बहा करता है। पेडों की छाल से सुन्दर वस्त्र बन सकते हैं। इस प्रकार जंगलों में खाना, पीना और बाना तीनों ही अनायास

प्राप्त हो सकते हैं। इसके विपरीत वस्ती के बीच में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ तथा दुःख भरे पडे है। इस श्लोक में भी वही झुंझलाहट दिखाई गयी है तथा घृणा उगली गयी हैं। झुंझलाहट उन मूर्ख भिक्षार्थियों पर जो अरण्यों के आनन्द की ओर नहीं देखते, और घृणा उन धनियों की ओर जो किसी तरह थोड़ा-सा धन पाते ही किसी को कुछ नहीं समझते। भिक्षार्थियों की ओर संकेत है कि जंगलों में कन्दमूल, झरनों में जल और पेडों में फल फूल और छाल आदि कभी खत्म नहीं होते और किसी कठिनाई या अपमान के बिना ही मिल जाते हैं। इसके विपरीत धनियों के अनेकों दुःख उठाने के बाद थोड़ा बहुत धन मिल जाता है और सदा उन्हें उसके समाप्त हो जाने का डर लगा रहता है। इसलिए अनेकों दुःखों के साथ ही उसे बचा रखते हैं। ऐसे लोगों के हाथों दो कौर अन्न के लिए अपमान सहना लज्जा की बात है।

श्लोक में धनी के साथ कुछ विशेषण लगा कर स्थिति को ओर भी स्पष्ट किया गया है। धन कैसा है ? बहुत थोड़ा है, और बहुत दुःखों के साथ इकट्ठा हुआ है। अपने साथ-साथ दूसरों को भी दुःख देने के बाद धन जुटता है, वह भी थोड़ा-सा। यह अधिक धनवालों पर लागू नहीं होता, सो बात नहीं है। वहाँ तो और भी अधिक दुःखों का समावेश है और चाहे जितना अधिक धन सम्पत्ति एकत्र हो जाए, इस विस्तृत सृष्टि में वह नगण्य ही है। परन्तु श्लोक में सिरे से ही धनियों की निन्दा नहीं की गयी है। उन ही धनियों के प्रति घृणा प्रकट की गयी है जो नीच प्रवृत्ति के हैं, जिन को थोड़ा धन मिलते ही भारी घमंड हो जाता है। किन्तु जो धनी विनयशील हों, मर्यादा की रक्षा करते हों, अहंकार रहित हो कर अपने कर्तव्य का पालन करते हों और धनोपार्जन के साथ विभाजन की भी व्यवस्था करते हों उनके लिए निराशा की बात नहीं है।

श्लोक २६

पुण्यैर्मूल फलैः प्रिय, प्रणयिनी वृत्तिं कुरुष्वाधुना
भूशय्यां नवपल्लवै रकृपणै रुत्तिष्ट यावो वनम्
क्षुद्राणाम् विवेक मूढ मनसां यत्रेश्वराणां सदा
वित्त व्याधि विकार विह्वलगिरां नामापि न श्रूयते।

पदच्छेद

पुण्यैर्मूल = पुण्यैः + मूल
फलैस्तथा = फलैः + तथा
कुरुष्वाधुना = कुरुष्व + अधुना
नवपल्लवैरकृपणैरुत्तिष्ट = नवपल्लवैः + अकृपणैः + उत्तिष्ठ
क्षुद्राणामविवेक = क्षुद्राणाम् + अविवेक
यत्रेश्वराणाम् = यत्र + ईश्वराणाम्
नामापि = नाम + अपि

पदान्वय

प्रिये उत्तिष्ठ! वनम् यावो, पुण्यैः मूलफलैः प्रणयिनीम् वृत्तिम कुरुष्व,
अधुना अकृपणैः नव पल्लवैः भूशय्याम् कुरुष्व;
यत्र अविवेक मूढ मनसाम्, सदा वित्तव्याधि विह्वलगिराम,
क्षुद्राणाम् ईश्वराणाम नाम अपि न श्रूयते

शब्दार्थ

प्रिये	= प्यारी	यत्र	= जहां
उत्तिष्ठ	= उठ	अविवेक	= अविचार से
वनम् यावः	= बन में चलें	मूढ मनसाम्	= जिनकी बुद्धि मारी गयी है,
अधुना	= अब		
पुण्यैः	= पवित्र	सदा	= हमेशा
मूल फलैः	= कंद मूल और फलों से	वित्त व्याधि विकार	= धन रूपी रोग के विकार से
प्रणयिनीम	= सुखदायी	विहवल गिराम्	= वाणी जिनकी बेहाल हो गयी है, जिनके जबान पर काबू नहीं रहा, (ऐसे)
वृत्तिम्	= जीविका		
कुरुष्व	= कर ले		
(तथा	= और)		
अकृपणैः	= उदार	क्षुद्राणाम्	= ओछे
नव पल्लवैः	= कोमल पल्लवों से	ईश्वराणाम्	= धनी यजमानों के,
भू शय्याम्	= भूमि का विस्तरा	नाम अपि	= नाम भी
(कुरुष्व)	= (बनाले)	न श्रूयते	= नहीं सुनायी पड़ते।

भावार्थ

प्यारी उठ ! चलो, अब हम बनों में वास करें। वहीं कन्दमूल और फलों पर निर्वाह करें और जमीन पर ताजी ताजी कोमल पत्तियों से नरम नरम गद्दा बनाकर आराम करें। बनों में इन ओछे यजमानों का नाम-निशान भी नहीं रहेगा, जिन्हें धन क्या मिला भारी रोग हो गया है। धन के कारण उनकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी है और उनके मुंह से सीधी बात भी नहीं निकलती।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में भिन्न-भिन्न पहलुओं से धन की निन्दा तथा वन की प्रशंसा करने के बाद इस श्लोक में निर्णय पर पहुँचते हैं कि याचना वृत्ति छोड़ना है और बन में जा कर बसना है। शब्द 'प्यारी' पत्नी को लक्ष्य कर के कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पिछले सभी श्लोकों में किसी वैरागी या सन्यासी की बात नहीं कही गयी है। सब कुछ बाल-बच्चे वाले संसारी पुरुष के लिए ही कहा गया है। इस दशक का पहला २१ वाँ श्लोक भी इसी बात की पुष्टि करता है। २३ वें श्लोक में भी यही है—बराबर वालों के बीच में दीन-हीन हो कर रहना ठीक नहीं है—इस सब से यही सिद्ध होता है कि ये सब श्लोक बाल-बच्चे वाले गृहस्थ के लिए ही कहे गये हैं।

किन्तु इसका यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि सभी गृहस्थों को घर द्वार छोड़ कर बनों में जा बसना है। यह केवल उन लोगों के लिए है जिन में वैराग्य की भावना जागृत हो चुकी है। यदि पुरुष को वैराग्य हो जाए तो स्त्री, बच्चों को अनाथ और अनाश्रित छोड़ कर चल खड़ा होना उचित नहीं है। स्त्री को भी वन-जीवन के लिए तैयार करना चाहिए, या उनके लिए सम्मान पूर्वक जीवन बिताने का कोई उपाय करना चाहिए। 'फलों पर जीवन बिताना', 'पत्तियों का विस्तर बनाना' ये शब्द स्त्री को लक्ष्य कर के कहे गये हैं। अर्थात् स्वयं उस पुरुष को भोजन-छाजन की कोई परवाह नहीं है, तो भी स्त्री को इन सभी वस्तुओं की चिन्ता रहती है। इसीलिए उसे सान्त्वना दी गयी है कि बन में भी सुख-सामग्री की कमी नहीं है। बल्कि इससे अच्छी और अधिक मात्रा में मौजूद है। शब्द "पुण्य-प्रणयिनी" से यह जताने की चेष्टा की गयी है कि वन में प्राप्त भोजन में पुण्य भी है और सुख भी है। अर्थात् शहर, बस्ती का भोजन पापमय

तथा दुःखमय होता है। कारण, जिस ढंग के लोगों से माँगना पड़ता है, वह निश्चय ही पाप की कमाई है और जिस ढंग से माँगना या पाना पड़ता है उससे दुःख ही होता है। इसका यह भी अभिप्राय हो सकता है कि फूल-फल पवित्र भोजन है और फूल पत्तियों के गदेलों पर बड़ा सुख मिलता है।

श्लोक में धन को रोग बताया गया है। सन्निपातादि रोगों में मनुष्य बड़-बड़ाता है और बुद्धि काम नहीं करती। साधारणतया अच्छे स्वभाव वालों में भी धन मिलने पर अच्छे बुरे की तमीज़ जाती रहती है और उल्टे-सीधे बकने लगते हैं। वनों में इस प्रकार के धनियों का नाम भी सुनाई नहीं पडेगा, क्योंकि वनों में धनी नहीं बसते। वे बस्तियों में मनुष्यों के बीच में रहते हैं और उन्हीं की मिहनत में से बचा-बचा कर धन बटोरते हैं। 'नाम भी न सुनोगे' इसका मतलब है कि वनों में धनियों का नाम लेवा भी नहीं मिलेगा। धनियों के पिछलग्गू बन कर पेट पूजा करनेवाले भी बस्तियों ही के भीतर रहते हैं।

श्लोक १७

फलम् स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिर मधुरं पुण्य सरिताम्
मृदुस्पर्शा शय्या सुललित लता पल्लव मयी
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः।

पदच्छेद

स्वेच्छा = स्व + इच्छा
वनमखेदम् = वनम् + अखेदम्

पदान्वय

प्रति वनम् अखेदम् स्व इच्छा लभ्यम् क्षिति रुहाम् फलम्
स्थाने स्थाने पुण्य सरिताम् शिशिर मधुरम् पयः
सुललित लता पल्लव मयी मृदु स्पर्शा शय्या
तदपि कृपणाः धनिनाम् द्वारि संतापम् सहन्ते

शब्दार्थ

प्रति वनम्	=	हरएक बन में	सुललित	=	अत्यंत कोमल
अखेदम	=	बिना कष्ट के	लता पल्लव मयी	=	लताओं तथा नयी कोंपल से भरी
स्व इच्छा लभ्यम्	=	अपने आप या जीभर प्राप्त होने वाले	मृदु स्पर्शा	=	छूने में बहुत मुलायम
क्षितिरुहाम् फलम्	=	पेडों पर फल हैं,	शय्या	=	बिस्तर (है),
स्थाने स्थाने	=	जगह जगह	तदपि	=	तब भी (लोग)
पुण्य सरिताम्	=	पवित्र नदियों में	कृपणाः	=	लालची, कंजूस
शिशिर	=	ठंढा	धनिनाम् द्वारि	=	धनियों के द्वार पर
मधुरम्	=	मीठा	सन्तापम् सहन्ति	=	दुख सहते हैं।
पयः	=	पानी (है),			

भावार्थ

बन बन में पेडों पर फल लदे हैं। जगह जगह नदी नालों में ठंढा और मीठा जल भरा है। सभी जगह मुलायम घास पात बिछी है। तिस पर भी दीन जन धनियों के दरवाजे पर पडे पडे दुख सहते है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की बातों को ही दूसरे रूप में यहाँ कहा गया है। किसी भी बन में खाने-पीने और रहने के लिए किसी भी वस्तु की कमी नहीं है। जंगली पेडों और पहाडी झरनों से जी भर खा-पी सकते हैं। सारी ज़मीन खुली पडी है, जहाँ चाहें आनन्द से लेट सकते हैं। दुनिया में धनियों के पास भी इन वस्तुओं की कमी नहीं है। किन्तु दोनों में भारी अन्तर है। धनी तो एक आध इधर-उधर बिखरे रहते हैं। इसके विपरीत दुखियों से दुनिया भरी पडी है। उन में जो थोडे से किसी धनी के पास पहुँच भी जाते हैं, वह भी उसके दरवाजे खड़ा करें भले ही, पर समय पर उनकी भी हाजत पूरी नहीं हो सकती। जंगलों में यह बात नहीं है। जिस पेड़ से चाहें, जिस समय चाहें और जितना चाहें, फल तोड़ सकते हैं। कोई टोकनेवाला नहीं। यही बात मधुर-पान और मुलायम बिछावन की है।

दूसरी ओर बस्ती है। बस्ती के धनियों और वन के पेडों में एक भारी अन्तर और है। जो मनुष्य खुद दुःख झेल कर और दूसरों को दुःख दे कर धन इकट्ठा करता है, वह खुले हाथों दूसरों को बाँट नहीं सकता। यदि बाँट दे तो दो ही दिन में हाथ खाली हो जाएगा, बल्कि ऐसे व्यक्ति के पास पहले तो धन इकट्ठा होगा ही नहीं। इसलिए स्वभावतः याचकों को धनियों के पास मुँह माँगी नहीं मिल सकती। (राजा बलि और हरिश्चन्द्र जैसे दानियों की बात न्यारी है। बलि और हरिश्चन्द्र तो युग-युगान्तर में एक ही एक हुए हैं। उनको भी जीते जी जो सुख मिला है सो जगजानी बात है। बलि को नीचे पाताल में दबा दिया गया और हरिश्चन्द्र को ऊपर स्वर्ग भेज दिया गया। अर्थात् दोनों में से एक को भी जीता न छोड़ा।)

पेडों और नदियों की स्थिति एक दम दूसरी है। उनका अस्तित्व ही दूसरों के उपकार के लिए है। यह आक्षेप हो सकता है कि सभी लोग वनों में जाएँ तो वन भी बियाबान हो जाएँ। यहाँ पर विरक्तों की बात हो रही है। सभी लोग विरक्त नहीं हो सकते। यदि हो जाएँ तो इससे बडी बात और क्या चाहिए। तब तो जंगल में मंगल रहेगा तो बस्तियों में भी बन्सी बजेगी। लोग जहाँ रहेंगे वहीं मौज से रहेंगे।

श्लोक २८

ये वर्त्तन्ते धनपति पुरः प्रार्थना दुःख भाजो
ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेप पर्य्याप्त बुद्धेः
तेषामन्तः स्फुरित हसितं वासराणाम् स्मरेयम्
ध्यानच्छेदे शिखरि कुहर ग्रावशय्या निषण्णः।

पदच्छेद

चाल्पत्वं = च + अल्पत्वम्
विषयाक्षेप = विषय + आक्षेप
तेषामन्तः = तेषाम् + अन्तः

पदान्वय

ये धनपति पुरः प्रार्थना दुःख भाजाः वर्तन्ते
ये च विषय आक्षेप पर्याप्त बुद्धेः अल्पत्वम् दधति
शिखरि कुहर ग्राव शय्या निषण्णः ध्यान च्छेदे
अंतुः स्फुरित हसितम् तेषाम् वासराणाम् स्मरेयम्

शब्दार्थ

ये	=	जो लोग	ग्राव शय्या	=	चट्टानों के बिस्तर पर
धनपति पुरः	=	धनियों के आगे	निषण्णः	=	बैठे हुए
प्रार्थना दुखभाजः	=	याचना के दुःखों को सहते हुए	ध्यान च्छेदे	=	ध्यान के समाप्त होने के बाद
वर्तन्ते	=	रहते हैं	अंतः	=	भीतर से
येच	=	और जो	स्फुरित हसितम्	=	उठने वाली हँसी के साथ
विषय आक्षेप	=	विषयों के आकर्षण से	तेषाम् वासराणाम्	=	उनके (बुरे) दिनों को—दुर्दशा को
पर्याप्त बुद्धेः	=	संकुचित बुद्धि से	स्मरेयम्	=	याद करता हूँ।
अल्पत्वम् दधति	=	नीचता को प्राप्त हो रहे हैं,			
शिखरि कुहर	=	पर्वत के खोहों में			

भावार्थ

जो लोग धनियों के दरवाजों पर पडे-पडे सड़ रहे हैं और जिनकी बुद्धि विषयों में फँस जाने के कारण कुंठित हुई जा रही है, अपने ध्यानादि से निबटने पर पहाड़ की खोहों में एक चौड़ा चट्टान पर बैठे-बैठे इन दीन-जनों की दुर्दशा की बात सोच-सोच कर मुझे हँसी आती है।

विशेषार्थ

बन-जीवन की प्रशंसा करन के बाद इस श्लोक में बन-पर्वतों में तपस्या करनेवालों और उदर पोषण के लिए धनियों की शरण लेनेवालों का मिलान किया गया है।

दिन भर के कामों से छुट्टी पाने पर संध्या समय स्वभावतः मनुष्यों को पीछे की बातें याद आ जाती है। यजमान को दिन भर निहारने के बाद याचक को शाम को निराशा ग्लानि, तथा दुःखों का अनुभव होता है। तपस्वी को इसके विपरीत दिन भर के ध्यान भजन से आनन्द का अनुभव होता है। याचक विषय सुख के पीछे अन्धा बने रहने के कारण उसकी बुद्धि दिन पर दिन कुंठित होती जाती है। कोई ऊँची बात वह सोच नहीं सकता। उल्टे और भी अधिक नीच उपाय खोजने लगता है। उसके मन में ईर्षा, निन्दा, चोरी आदि की भावनाएं उठने लगती हैं। इसी को श्लोक में 'बुद्धि का अल्पत्व प्राप्त होना' कहा गया है। इन ही तुच्छ विचारों तथा नीच कार्यों में उनके दिन ढलते जाते हैं। अर्थात् वह बूढ़ा होने लगता है। तब उसमें न अच्छे कामों के करने की शक्ति होती है और न बुरे कामों का साहस रह जाता है। परिणाम यह होता है कि उसका और भी अधः पतन होता है। ऐसी दशा में वह कभी सोच भी नहीं सकता कि उसका उद्धार कैसे होगा। वह यह अनुभव ही नहीं कर सकता कि तपस्वी लोग कैसे आनन्द का जीवन बिताते हैं। इसके विपरीत तपस्वी को दिन भर ध्यान आदि में मग्न रहने के बाद संध्या के समय उसका मन एक दम शान्त तथा प्रफुल्लित रहता है। स्वभावतः उसे भी विश्राम के समय दूसरे लोगों की याद आ जाती है। उस पर उसे हँसी भी आती है। किन्तु यह हँसी द्वेष या तिरस्कार के कारण नहीं बल्कि उनकी नादानी पर है। कहाँ तो यह हाल था कि दूसरे लोग उस पर हँसा करते थे और कहाँ अब यह स्थिति है कि उसे ही दूसरों पर हँसी आती है। जीवन के परिवर्तन से इतना बड़ा लाभ सांसारिक दृष्टि से ही हुआ। परन्तु तपस्वी बने और दूसरों पर हँसे, यह उसे शोभा नहीं देता। परन्तु ऐसे लोग दूसरों की अपेक्षा अपनी ही बातें अधिक सोचा करते हैं। उन्हें अपनी पिछली बातों की याद आ जाना स्वभाविक है। वह अपने उन दिनों की आज के दिनों से तुलना करता है और हँस पड़ता है कि वह पहले कैसा मूर्ख था जो ऐसे आनन्द के जीवन को न समझ कर याचना जैसी दीन-हीन जीवन में पड़ा था।

श्लोक २९

ये सन्तोष निरन्तर प्रमुदिता स्तेषां न भिन्ना मुदो
य त्वन्ये धन लुब्ध संकुलधिय स्तेषां न तृष्णा हता
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक्पदं संपदाम्
स्वात्मन्येव समाप्त हेम महिमा मेरुर्न मे रोचते ।

पदच्छेद

मुदितास्तेषाम् = मुदिताः + तेषाम्
येत्वन्ये = येतु + अन्ये
धियस्तेषाम् = धियः + तेषाम्
स्वात्मन्येव = स्व + आत्मनि + एव
मेरुर्न = मेरुः + न

पदान्वय

ये सन्तोष निरन्तर प्रमुदिताः तेषाम् मुदः न भिन्ना
ये तु अन्ये धन लुब्ध संकुल धियः तेषाम् तृष्णा न हता
इत्थम् तादृक्पदम् सम्पदाम् मेरुः विधिना कस्य कृते कृतः
स्वात्मनि एव समाप्त हेम महिमा मेरुः मे न रोचते

शब्दार्थ

ये	= जो लोग	न भिन्ना	= अलग नहीं होता,
सन्तोष	= लालच न करके जो प्राप्त हो उसी पर तृप्त हो कर	ये तु	= और जो
		अन्ये	= दूसरे लोग
		धन लुब्ध	= धन के लोभ से
		संकुल धियः	= आकुल मनवाले हैं
निरन्तर	= सदा	तेषाम्	= उनका
प्रमुदिताः	= प्रसन्न रहते हैं	तृष्णा	= लालच
तेषाम्	= उनसे	न हता	= नहीं मिटता,
मुदः	= आनन्द	इत्थम्	= ऐसी दशा में

तादृक् पदम्	=	उस प्रकार की, उतनी बडी	स्व आत्मनि एव	=	अपने ही में
सम्पदाम्	=	धन राशि	समाप्त	=	सीमित रहने वाला
मेरु	=	मेरु(सोने का पर्वत)	मेरुः	=	मेरु पर्वत
स विधिना	=	उस ब्रह्मा द्वारा	मे	=	मुझे
कस्य कृते	=	किसके लिए	न रोचते	=	नहीं रुचता
कृतः	=	बनाया गया है,			

भावार्थ

जो सन्तोषी हैं उन्हें किसी वस्तु की कमी के कारण उनके आनन्द में टोटा नहीं पड़ता--कुछ न पाने पर भी सदा मगन रहते हैं। जो लालची हैं उनका लालच कभी पुरता ही नहीं। सब कुछ पास होते हुए भी उनका लालच बराबर बढ़ता ही रहता है। संतोषी को कभी धन की इच्छा ही नहीं होती और लोभी को सोने के पहाड़ पर जा बैठने पर भी लालच बना ही रहता है। समझ में नहीं आता कि फिर किस लिए ब्रह्मा ने सोने के मेरु पर्वत को रचा है, जो न सन्तोषी के काम की वस्तु है और न लोभी का काम ही पूरा करता है। अर्थात् धन एकदम निकम्मी वस्तु है।

विशेषार्थ

'खाने कपडे भर को मिल जाए, हमें कुछ और नहीं चाहिए, एक मकान बन जाए, बस इससे बढ़ कर हम कुछ नहीं चाहते, एक मोटर ख़रीदें तो फिर आनन्द से रहें,' इस प्रकार कहनेवाले सभी लोग दुनिया को धोखा देते हैं और अपने आप को धोखा देते हैं। इस श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि लालच का कहीं अन्त नहीं है। सोने का पहाड़ मिल जाए तब भी लालच नहीं मिटेगा। कहा जाता है कि मेरु संसार में सबसे बड़ा पर्वत है, सारा का सारा सोने का बना है और उसमें हीरे, जवाहर आदि दुनिया भर की सम्पत्ति भरी पडी है। इतनी बडी सम्पत्ति भी मिल जाए तब भी मनुष्य यही चाहेगा कि कुछ और मिले। परिणाम यह होता है कि सम्पत्ति के साथ शान्ति के बदले अशान्ति ही बढ़ती है।

शान्ति का मार्ग बिलकुल दूसरा है। वह है सन्तोष का मार्ग। सन्तोष और त्याग में अन्तर है। खाना, कपडा, मकान आदि को त्यागने की बात नहीं है। इन सबके साथ यदि सन्तोष भी रहे तो शान्ति रहेगी। इन सबके न होते हुए भी यदि सन्तोष रहे तो भी शान्ति मिलेगी। सन्तोष प्रधान है, धन नहीं। इसीलिए सन्तोष को परम-धन कहा गया है।

श्लोक ३०

भिक्षा हार मदैन्य मप्रति मुखम् भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्य मदाभि मान मथनं दुखौघ विध्वंसनम्
सर्वत्रान्वह मप्रयत्नं सुलभं साधु प्रियं पावनम्
शंभो सत्रमवार्य मक्षयनिधिं शंसंति योगीश्वरा।

पदच्छेद

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिमुखम् = भिक्षा + आहारम् + अदैन्यम् + अप्रतिमुखम्

मदाभिमान = मद + अभिमान
भीतिच्छिदम् = भीतिः + छिदम्
दुःखौघ = दुःख + ओध
सर्वत्रान्वहमप्रयत्न = सर्वत्र + अनु + अहम् + अप्रयत्न
सत्रमवार्य मक्षयम् = सत्रम् + अवार्यम् + अक्षयम्

पदान्वय

भिक्षाहारम् अदैन्यम् अप्रति मुखम् सर्वतः भीति च्छिदम्
दुः मात्सर्य मद अभिमान मथनम् दुःख ओध विध्वंसिनम्
सर्वत्र अनुअहम् अप्रयत्न सुलभम् पावनम् साधु प्रियम्
अवार्यम् अक्षयनिधिम् शम्भो सत्रम् योगीश्वराः शंसन्ति

शब्दार्थ

भिक्षाहारम् = भिक्षा का भोजन
अदैन्यम् = अपमान से रहित (है)
अप्रतिमुखम् = बे जोड़ (है)
सर्वतः = सभी जगह
भीतिच्छिदम् = भय को दूर करने वाला है
दुः मात्सर्य मद अभिमान दमनम् = बुरे मत्सर, मद और अभिमान को मिटाने वाला है
दुःख ओघ = दुःखों के समूह को (सभी दुखों को)
विध्वंसनम् = नष्ट करनेवाला है
सर्वत्र = सब सगह
अनु अहम् = प्रति दिन
अप्रयत्नम् = बिना प्रयत्न के
सुलभम् = सरलता से प्राप्त होनेवाला है
पावनम् = पवित्र है
साधु प्रियम् = सन्त-जनों को प्रिय है
अवार्यम् = दुरानेवाला-नहीं है
अक्षय निधिम् = कभी खत्म या खाली न होनेवाला है
शम्भो सत्रम् = (ऐसे) महादेव जी के अन्न क्षेत्र की
योगीश्वराः = योगी-जन
शंसंति = प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ

भिक्षावृत्ति से सम्मान की रक्षा होती है। यह बडी अनुपम वृत्ति है। इसके लिए मनुष्य को किसी का मुंह ताकना नहीं पड़ता। उसे किसी का डर नहीं है। साथ ही वह. मान अहंकार आदि दुर्गुणों को नष्ट कर डालता है। बिना किसी परिश्रम के प्राप्त होता है और सदा प्राप्त होता है। इसीलिए योगीराज उसकी बारम्बार प्रशंसा करते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में वैराग्य की शिक्षा के साथ भिक्षा की निंदा की गयी थी। फिर जीवन निर्वाह कैसे हो? इसके लिए बनों में कन्दमूल और पहाडों में झरनों का पानी बताया था। बस्ती में भी रह सकते हैं। पीछे २३वें श्लोक में तपस्वियों के बस्तियों की चर्चा आयी है। इस श्लोक में बताया है कि भिक्षा में क्या क्या गुण और लाभ हैं। इसका यह भी अभिप्राय निकलता है कि यदि

भिक्षा में यह सब बातें न हों तो उसे भिक्षा नहीं कहना चाहिए। भिक्षा वही है जिसके लिए दीनता से मांगना न पडे, किसी के अधीन न रहें, उसके लिए किसी प्रकार की सेवा या परिश्रम न करना पडे, उसके न मिलने या छूट जाने का डर न रहे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ–एक योग्य सन्त–सन्यासियों के लिए ऐसा प्रबन्ध हो सकता है। परन्तु ऐसे व्यक्तियों में भी अपने सम्मान के कारण अहंकार उत्पन्न न होना चाहिए। थोडे बहुत पुराने संस्कार बाकी भी हों तो मिट जाने चाहिए। पर साथ ही दीनता के भाव भी मन में जगह न पावें। सम्मान हो या नहो, पर स्वाभिमान को धक्का तो लगना ही नहीं चाहिए। नहीं तो इससे आत्मा की अवनति होगी। अभिप्राय यह हुआ कि भिक्षावृत्ति आत्मिक उन्नति का साधन बने, बाधक नहीं। दुखों का विनाश इसी अभिप्राय की ओर संकेत करता है। दुख से एकदम छुटकारा होना ही मोक्ष है। अतः भिक्षा आत्मिक उन्नति तथा मोक्ष का साधन है।

'भिक्षा' शब्द के अभिप्राय का एक दूसरा पहलू भी ध्यान देने योग्य है। ऊपर गिनाये गये गुण जिस किसी वृत्ति में हों वह सब ही भिक्षा में दाखिल हैं। बनों में कंद मूल और झरनों के जल में भी यही गुण है। इसलिए वह भी भिक्षा है। भिक्षा को मधुकरी भी कहते हैं। जिस प्रकार शहद की मक्खी सब फूलों से रस लेती है, किंतु किसी फूल को नष्ट नहीं करती, उसीप्रकार जहां से भिक्षा लें उस व्यक्ति या वस्तु का ह्रास नहीं होना चाहिए और दूसरी ओर शहद भी इकट्ठा होता जाए, जिसे मक्खियां भी चखतीं हैं और मनुष्य भी खाते हैं।

यही नहीं, जिस समाज के अंदर सब व्यक्तियों के लिए या कुछ खास व्यक्तियों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था हो वह भी भिक्षा है। समाजवादी समाज के अंदर सभी व्यक्ति भिक्षा पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार के समाज में मनुष्य मिहनत तो करता है पर वह पेट के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए कर्तव्य के रूप में करता है। वहां तो सभी की आवश्यकताओं को पूरा करने की गारंटी होती है। चाहे काम किसी का कुछ हो या कोई किसी कारण एकदम काम ही न करे, उसकी सभी आवश्यकताएं पूरी होनी चाहिए। भिक्षा के भीं वास्तविक अर्थ यही हैं अधिक से अधिक सेव करना और कम से कम लेना या केवल आवश्यकता भर मावज़ा स्वीकार करना।

सच्चे साधु समाज की सबसे बडी सेवा कर सकते हैं। कुछ साधु करते भी हैं। मगर समाज से वे लेते क्या हैं? केवल पेट भर अन्न और एक आध जोड़ा

गेरुवा वस्त्र। इसीलिए उस अन्न को भिक्षा कहा गया है। इस प्रकार सभी समाज सेवक जो अपना सर्वस्व समाज के लिए अर्पण कर देते हैं और अपने भरण-पोषण के लिए समाज से जो कुछ स्वीकार करते हैं, उसे भी भिक्षा वृत्ति का सम्मान प्राप्त है। ऐसे साधु-संत और सेवक सच्चे भिक्षुक हैं और वह भिक्षा स्वीकार कर के समाज पर एहसान करते हैं। यह ध्यान रहे कि यहां पर पाखंडी, ढोंगी और स्वार्थियों का समर्थन नहीं किया जा रहा है।

तृतीय दशक का सारांश

श्लोक २१– स्वाभिमान व्यक्ति भीख माँगना पसंद नहीं करेगा।

२२– पेट का बहाना निरी विडम्बना है।

२३– बराबर वालों में भीख माँगने से बनवासी तपस्वियों का आश्रय लेना अच्छा है।

२४– पराया कौर खाने की अपेक्षा स्वयं बन में बस जाना ठीक है।

२५– बस्ती में भीख माँगने से कहीं कन्द मूल खा कर जीना उत्तम है।

२६– स्त्री बच्चों के लिए भी जंगलों में खाने पहनने का टोटा नहीं रहेगा।

२७– धनियों के दरवाजे पर पडे रहने से जंगली फल फूल खाना और घास पर सोना अच्छा है।

२८– बन का तपस्वी बस्ती के कंगाल पर हँसता है।

२९– सांसारिक सम्पदा से न लोभी का लालच मिटता है और न सन्तोषी को शान्ति मिलती है।

३०– भय रहित भिक्षा सर्वोत्तम वृत्ति है।

इस प्रकार इस दशक में बस्ती के प्रलोभनों से मन को हटा कर बन जंगल की मनोहरता की ओर आकृष्ट किया गया है। आगे के श्लोकों में इस भौतिक सुख को सिरे से ही निरर्थक बताने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक ३१

भोगे रोग–भययं कुले च्युति–भयं वित्ते नृपालाद्भयम्
माने दैन्य–भयं बले रिपु–भयं रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वाद–भयं गुणे खल–भयं काये कृतान्ताद्भयम्
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।

पदच्छेद

नृपालाद्भयम् = नृपालात् + भयम्
कृतान्ताद्भयम् = कृतान्तात् + भयम्
भयान्वितम् = भय + अन्वितम्
वैराग्यमेवाभयम् = वैराग्यम् + एव + अभयम्

पदान्वय

भोगे रोग–भयम् कुले च्युति–भयम् वित्ते नृपालात् भयम्
माने दैन्य–भयम् बले रिपु–भयम् रूपे जराया भयम्
शास्त्रे वाद–भयम् गुणे खल–भयम् काये कृतान्तात् भयम्
भुवि सर्वं वस्तु भय अन्वितम् नृणाम् वैराग्यम् एव अभयम्

शब्दार्थ

भोगे = भोग में
रोग भयम् = रोग का भय (लगा रहता है),
कुले = कुल में
च्युति–भयम् = गिरने या भ्रष्ट होने का भय (रहता है),
वित्ते = धन में
नृपालात् = राजा से, राजसे
भयम् = भय (रहता है),
माने = अभिमान या सम्मान में
दैन्य–भयम् = हीनता का भय (रहता है)
बले = बल में
रिपु–भयम् = शत्रु का भय (रहता है),
रूपे = सुन्दरता में
जराया भयम् = बुढ़ापे का भय रहता है,
शास्त्रे = शास्त्र में यानी विद्वान बनने में

वाद-भयम्	= वाद विवाद अथवा शास्त्रार्थ का भय (रहता है),
गुणे	= विनय आदि सद्‌गुणों के होने में
खल-भयम्	= नीचों की ओर से भय (रहता है),
काये	= शरीर में
कृतान्तात् भयम्	= यमराज का भय रहता है,
भुवि	= संसार में
सर्वम् वस्तु	= सब वस्तुएं
भयान्वितम्	= भय से भरी हैं,
नृणाम्	= मनुष्यों के लिए
वैराग्यम् एव	= वैराग्य ही
अभयम्	= भय से खाली है, अर्थात् वैराग्य के लिए कोई भय नहीं है।

भावार्थ

सुखों के भोगने से शरीर में रोग पैदा होने का भय लगा रहता है। अपने कुल का अभिमान करने पर उस कुल में कलंक लग जाने का डर रहता है। धन के इकठ्ठा करने पर राज की ओर से खटका रहता है। सम्मान के साथ अपमान की शंका लगी रहती है। बली बनने पर बैरी का डर सताया करता है। शरीर की सुन्दरता पर बुढ़ापे में उसके ढल जाने की चिंता रहती है। विद्वत्ता पर गुमान होने सी वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ में हार जाने का भय उत्पन्न होता है। विनयशील बन कर सबसे नमकर रहने में नीच लोगों के तालियां बजाकर खिल्ली उड़ाने का भय रहता है। यहां तक कि इस शरीर के साथ ही सदा मृत्यु का खटका लगा रहता है। सारांश यह कि संसार में सभी वस्तुएं भय से भरी पडी हैं। केवल वैराग्य ही एक ऐसी वस्तु है जिसमें किसी प्रकार का खटका नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में भिक्षा-भोजन ही को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया था। अब भिक्षा के अतिरिक्त अन्य साधनों पर निर्वाह करने वाले अर्थात् सांसारिक प्रवृत्तियों में व्यस्त रहने वाले गृहस्थ की ओर संकेत करते हुए यह श्लोक कहे गये हैं। इन श्लोकों में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि स्वार्थमय-गृहस्थ जीवन की सभी वृत्तियाँ भयप्रद तथा हानिकर हैं।

भोग के साथ रोग, कुल के साथ कलंक, धन के साथ हरण, बल के साथ बैरी, विद्या के साथ विवाद, शरीर के साथ मृत्यु का भय लगा रहता है। भय के माने हैं खतरा। खतरा सही भी हो सकता है और उससे साफ बचा भी जा सकता है। किंतु बचना अपने अधिकार में नहीं है। श्लोक में शरीर के साथ यमराज को जोड़ कर यह सिद्ध किया गया है कि भोग आदि के साथ रोग आदि का होना उतना ही निश्चित है, जितना जन्म के साथ मरण का। परन्तु यह सभी जानते हैं कि नियमित आहार-विहार के द्वारा अन्य प्रकार के भयों से निवृत्ति भी हो सकती है। यहां तक कि मृत्यु का भी भय जाता रहता है।

इस प्रकार मनुष्य को भोग आदि से सावधान रहने की बात कही गयी है। मनुष्य को खाने, पीने या धनी, विद्वान बनने का निषेध नहीं है, बल्कि उनका उपयोग ऐसा होना चाहिए जिससे भय से निवृत्ति हो। जो जितना भय से निवृत्त होगा उतना ही वह मनुष्यत्व की सीमा में प्रवेश किया हुआ माना जायेगा। निम्न योनि के जीव-जन्तु अधिक डरते हैं। अल्प विकसित समाज के मनुष्य भी अधिक डरते हैं। भय से एकदम परे होना ही पूर्ण मनुष्य बनना है। इस भय से निवृत्ति का उपाय है वैराग्य। भोग आदि को त्यागना ही पूर्ण वैराश्य नहीं हैं। रोग आदि की ओर भी वैराग्य की भावना रखनी चाहिए। भोग और रोग दोनों की ओर समान विराग होना ही पूर्ण वैराग्य है। तब ही जीवन और मरण उसके लिए समान हो सकते हैं। और तभी जीव जमराज को भी पछाड़ दे सकेगा।

ऊपर के विवरण से एक बात और सिद्ध होती है—जहाँ अपूर्णता है वहीं भय है। अपूर्णता को यहाँ अज्ञान कहना अधिक उपयुक्त होगा। जिस चीज से जानकारी न हो, उसी से हमें डर लगता है। कोई नया कीडा आ जाय तो हम दूर भागते हैं। कीड़ा विषैला न हो तब भी हम उसके छू जाने से डर जाते हैं। असभ्य और जंगली जातियों के शंकाशील होने का भी यही कारण है। इसी प्रकार इस श्लोक के रोग राज, रिपु राज, यमराज के भय भी हैं। शास्त्रार्थ की शंका भी इसी श्रेणी की है। "अभयोर्मुक्तिः"(अभय हो जाना ही मुक्ति को प्राप्त होना है।) विद्ययामृतमश्नुते (विद्या से अमृत की प्राप्ति होती है।) पूर्णमेवाव-शिष्यते (पूर्णता स्थाँई वस्तु है।) इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसी श्लोक की पुष्टि करते हैं।

श्लोक ३२

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनम्
सन्तोषो धनलिप्सया शम–सुखम् प्रौढाँगना–विभ्रमैः
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वन–भुवो व्यालैर्नृपादुर्जनै
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा।

पदच्छेद

चात्युज्ज्वलम् = च + अति + उज्ज्वलम्
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणाः = लोकैः + मत्सरिभिः + गुणाः
प्रौढाँगना = प्रौढ + अंगना
व्यालैर्नृपा = व्यालैः + नृपा
दुर्जनैरस्थैर्येण = दुर्जनैः + अस्थैर्येण
विभूतयोऽप्युपहताः = विभूतयः + अपि + उपहताः

पदान्वय

जन्म मरणेन, अति उज्ज्वलम् यौवनम् जरसा,
सन्तोषः धनलिप्सया, शम सुखम् प्रौढ अंगना विभ्रमैः आक्रांतम्,
गुणाःमत्सरिभिः लोकैः, वन भुवः व्यालैः, नृपा दुर्जनैः उपहताः
विभूतयः, अपि अस्थैर्येण उपहताः, किम् केन–वा न ग्रस्तम्

शब्दार्थ

जन्म	= जन्म, पैदा होना या जीवन	यौवनम्	= जवानी
मरणेन	= मृत्यु से	जरसा	= बुढ़ापे से
(आक्रान्तम्	= घिरा हुआ है)	(आक्रान्तम्	= घिरी हुई है)
अतिउज्ज्वलम्	= अति प्रकाशमान	सन्तोषः	= सन्तोष या तृप्ति
		धन लिप्सया	= धन के लालच से

शम सुखम्	=	वासनाओं को वश में करके प्राप्त होने वाली शान्ति
प्रौढ़ अंगना	=	जवान स्त्री के
विभ्रमैः	=	भाव भंगियों के जादू से
(आक्रान्तम्	=	घिरी हुई है)
गुणाः	=	शील आचारादि सद्गुण
मत्सरिभिःलोकैः	=	डाह करनेवाले लोगों से
उपहताः	=	मारे जाते हैं
वन भुवः	=	बन जंगल
व्यालैः	=	सांपों से
(आक्रान्तम्	=	भरे हुए हैं)
नृपा	=	राजा महाराजा और सत्ताधारी
दुर्जनैः	=	दुष्टों द्वारा
उपहता	=	मारे गये हैं, उनकी बुद्धि मारी गयी है,
विभूतयः अपि	=	सम्पदाएँ भी
अस्थैर्येण	=	अस्थिरता से
उपहताः	=	नष्ट होती हैं
किम्	=	कौन वस्तु
केन वा	=	किसी न किसी से
न ग्रस्तम्	=	डसी हुई नहीं है?

भावार्थ

जीवन को सदा मरण ने घेर रखा है। जीवन की अन्य वस्तुओं की भी यही दशा है। जैसे जवानी को बुढ़ापे ने, सन्तोष को लोभ ने, इन्द्रियों की शान्ति को युवतियों की भाव-भंगियों ने, सद्गुणों को डाह ने, बन पर्वतों को जंगली जानवरों ने, राजाओं को दुष्टों ने और सम्पदाओं को अस्थिरता ने घेर रखा है। कहाँ तक गिनाया जाए, संसार में सभी वस्तुएं किसी न किसी विपत्ति के भय से घिरी हुई हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की बातों को ही दूसरे रूप में कहा गया है। अन्तर केवल इतना जान पड़ता है कि पिछले श्लोक में गृहस्थों को उद्देश करके कहा गया था, इस श्लोक में विरक्तों की ओर संकेत है। जिन व्यक्तियों में पूर्ण विरक्ति न हो, उनके सामने भी उसी प्रकार की विपत्तियाँ हैं, जिस प्रकार की गृहस्थों के सामने। केवल घर और बाल-बच्चों से दूर भाग जाने से दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। सब कुछ त्याग कर भी वह सदा अपनी जान बचाने की फिक्र

में रहते हैं। उन्हें कोई बुड्ढा भी कह दे तो बिगड़ जाते हैं। लंगोटी लगा कर भभूत रमाते हैं, फिर भी दिल में धन की कामना बनी रहती है। नाक, आँख बन्द किए जाप करते हैं, किन्तु सदा सुन्दरियों पर ध्यान लगा रहता है। साधू बन कर भी स्वयं सन्त-महात्माओं की प्रतिष्ठा और सम्मान से डाह करते हैं। ऐसे व्यक्ति को बन पर्वतों में कुटी रमाने पर भी वहाँ उसे शांति नहीं मिलती, बल्कि वह वहाँ भी जंगली जन्तुओं से भी भय-भीत ही रहता है। इस प्रकार सिद्ध किया गया है कि योगी (दिखावे के) तथा भोगी दोनों ही समान रूप से पीड़ित रहते हैं। यद्यपि जीवन, यौवन, सन्तोष, शम, शान्ति, बन, भभूत आदि वस्तुतः बुरी नहीं हैं। बुरी मन की अस्थिरता है, जिसके कारण सारा मजा किरकिरा हो जाता है। चाहे कोई सन्यासी हो या सांसारी, यदि वह समझे कि जीवन खटके से खाली है, तो वह एक दम भूल में है। हर काम में, हर वस्तु में, हर अवस्था में कुछ न कुछ खटका लगा ही रहता है। वस्तुओं से छुटकारा तो असम्भव है। अलबत्ता भय से छुट्टी मिल सकती है। इसलिए पिछले श्लोक में जैसा कि कहा है सच्चा वैराग्य ही इस भय से बचने का एक मात्र उपाय है।

श्लोक ३२

आधि–व्याधि–शतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र पतन्ति तत्र विवृत–द्वारा इव व्यापदः
जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्
तत्किं तेन निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्।

पदच्छेद

शतैर्जनस्य = शतैः + जनस्य
विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते = विविधैः + आरोग्यम् + उन्मूल्यते
लक्ष्मीर्यत्र = लक्ष्मीः + यत्र
जातमवश्यमाशु = जातम् + अवश्यम् + आशु
करोत्यात्मसात् = करोति + आत्मसात्
यन्निर्मितम् = यत् + निर्मितम्

पदान्वय

विविधैः आधि व्याधि शतैः जनस्य आरोग्यम् उन्मूल्यते
यत्र लक्ष्मीः तत्र व्यापदः विवृत-द्वारा इव पतन्ति
मृत्युः जातम् जातम् अवश्यम् आशु विवशम् आत्मसात् करोति
तेन निरंकुशेन विधिना यत् सुस्थिरम् निर्मितम् तत् किम्

शब्दार्थ

विविधैः	=	भिन्न-भिन्न प्रकार के	मृत्युः	=	मौत
शतैः	=	सैकड़ों	जातम्-जातम्	=	जो-जो पैदा होते हैं
आधि	=	दुःख (तथा)	अवश्यम्	=	बेबस करके, ज़रूर
व्याधि	=	रोगों से	आशु	=	जल्दी ही
जनस्य	=	लोगों का	आत्मसात्	=	अपने बस में
आरोग्यम्	=	स्वास्थ्य	करोति	=	कर लेती है अर्थात् सभी मर जाते हैं,
उन्मूल्यते	=	जड़ से उखाड़ दिया जाता है,	तेन	=	उस
यत्र	=	जहाँ	निरंकुशेन	=	बे रोक
लक्ष्मीः	=	धन (हो)	विधिना	=	ब्रह्मा द्वारा
तत्र	=	वहाँ	यत्	=	जो
व्यापदः	=	विपत्तियाँ	सुस्थिरम्	=	स्थाई
विवृत	=	खुले	निर्मितम्	=	बनायी गयी है
द्वारा इव	=	दरवाजों के समान, मानो उनके लिए सभी दरवाजे खुले हों,	तत्	=	वह
पतन्ति	=	आ पड़ते हैं,	किम्	=	कौन (वस्तु) है अर्थात् सभी अस्थाई हैं।

भावार्थ

सैकड़ों रोगों तथा चिन्ताओं से मनुष्य का स्वास्थ्य सदा उखड़ता रहता है। धन इकट्ठा होने पर तरह-तरह की आफ़तें मानो किवाड़ तोड़ कर घर में घुस पड़ती हैं। ज्यों ही जन्म लेते हैं त्यों ही मृत्यु प्रत्येक प्राणी को अपने चंगुल में दबोचे रखती है। तब वह कौन वस्तु है जिसे ब्रह्मा ने स्थाई बना कर पैदा किया !

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में संकेत था कि यौवन, आलिंगन, धन, सम्मान आदि में सुख हैं पर उन सुखों का उपभोग अधिक समय तक नहीं किया जा सकता। इस श्लोक में कहा है कि उस थोडे से सुख की भी कोई गारंटी नहीं है। यौवन का सुख भोगने के लिए स्वास्थ्य की आवश्यकता है। शरीर पर कितने ही रोग सदा चढ़ाई करते रहते हैं और घर की सैकडों चिन्ताएँ सताती रहती हैं। नतीजा यह होता है कि जवान हो कर भी जवानी का मज़ा जी भर कर लूट नहीं सकते। दूसरे नम्बर पर धन है। धन के बिना सुख-सामग्री जुट नहीं सकती। किन्तु धन के साथ-साथ दुखों के पहाड़ भी टूट पड़ते हैं। मतलब यह कि केवल धन से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। धन का ध्यान त्याग कर, शरीर की चिन्ता छोड़ कर विचरने लगें तो इन दोनों से जो थोड़ा-सा सुख थोडे समय के लिए मिलता वह और भी कम हो जाता है। मर भी जाएँ तो अचरज नहीं, क्योंकि मृत्यु तो सदा मुँह बाए बैठी है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थी, वानप्रस्थ और सन्यास, किसी में भी स्थाई सुख की प्राप्ति असंभव है।

शरीर-स्वास्थ्य, धन-विपदा, और जन्म-मरण इस प्रकार केवल तीन बातों का ब्योरा दे कर श्लोक में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा पर लांछन लगाया गया है कि उसने कोई वस्तु निरापद नहीं बनायी। यह कहाँ तक ठीक है? क्या संसार में इन तीनों या छः के सिवा कोई और वस्तु नहीं है? वास्तविक बात यह है कि इन तीनों बातों में ही संसार की सारी वस्तुएँ भर दी गयी हैं। लड़कपन, जवानी और बुढापा, इस प्रकार इसमें पूरे जीवन का समावेश किया गया है। स्वास्थ्य के बिना शरीर का सुख नहीं मिल सकता। विपत्तियाँ लगी रहें तो धन का क्या प्रयोजन? इसी प्रकार मौत के साये में ही मनुष्य जन्म लेता है। और शरीर के अन्त होने को मृत्यु कहते हैं। यह अन्त संसार की हर वस्तु के साथ लगा हुआ है। रोग स्वास्थ्य का अन्त कर देता है और विपदाएँ ग्रहण बन कर धन को ग्रस लेती हैं। इन ही चिन्ताओं से निश्चित होने के लिए हिन्दू-धर्म में आश्रमों की व्यवस्था दी गयी है। ब्रह्मचर्याश्रम से स्वास्थ्य की रक्षा, गृहस्थाश्रम से धन की रक्षा और वानप्रस्थाश्रम से सन्यासाश्रम में प्रवेश करके मृत्यु के भय से निवृत्त होने की चेष्टा की गयी है।

"निरंकुशेन विधिना", इन शब्दों पर भी थोड़सा विचार करालें। विधि ब्रह्मा को कहते हैं। वह 'निरंकुश' है यानी उस पर कोई अंकुश नहीं है, मनमानी

करता है, बेतुकी बातें करता है। नियम को भी विधि कहते हैं। कोई काम विधिवत् किया जावे तो उसमें बेतुका पन कैसा ? आजकल के विधान सभाओं को देखिए, जहाँ नित नए विधि (कानून) बनते हैं। विधि में कोई बेतुका-पन न आने पाये, इसके लिए विरोध होता है। उसका काम है त्रुटियों को बताना। जिसमें स्वयं कोई त्रुटि न हो, वही दूसरों को त्रुटियाँ बता सकता है। सब से उत्तम मानव (मान लिया जाए) ब्रह्मा भी त्रुटियों से खाली नहीं है। सबूत यही है कि वह ऐसी बेतुकी बातें किया करता है। ब्रह्मा जो स्वयं नाशवान है शाश्वत की सृष्टि कैसे कर सकता है ? कोई ब्रह्मा है भी ? या केवल विधि-नियम से चीजें हुई जा रही हैं ? अगर है तो वह केवल भोगी अथवा भोग्य वस्तुओं का ही सृजन कर सकता है, जो दोनों ही अस्थाई हैं। शरीर जाता है, शारीरिक सुख-सामग्री भी जाती है। रह जाता क्या है ? केवल आत्मा, जिसको बनाना, बिगाड़ना ब्रह्मा के बस की बात नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मा-विधि पर भी शरीर धारी आत्मा का अंकुश हो सकता है। शायद इसी कारण आज मनुष्य सारी सृष्टि का स्वामी बनता जा रहा है। जैसे शरीर द्वारा सृष्टि को काबू में किया जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा द्वारा, शायद, परमात्मा को भी......

श्लोक ३४

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये नियमित-तनुभिः स्थीयते गर्भवासे
कांता-विश्लेष दुःख व्यतिकर विषमो यौवने चोपभोगः
वामाक्षीणामवज्ञा विहसितवसतिवृद्ध-भावोऽप्यसाधुः
संसारे रे मनुष्याः वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्।

पदच्छेद

कृच्छ्रेणामेध्यमध्ये = कृच्छ्रेण + अमेध्य + मध्ये
चोप भोगः = च + उपभोगः
वामाक्षीणामवज्ञा = वाम + अक्षीणाम् + अवज्ञा
वसतिर्वृद्धभावोप्यसाधुः = वसतिः + वृद्धभावः + अपि + असाधुः
स्वल्पमप्यस्ति = स्वल्पम् + अपि + अस्ति

पदान्वय

गर्भ–वासे–अमेध्य–मध्ये नियमित तनुभिः कृच्छ्रेण स्थीयते
यौवने च उपभोगः कान्ता विश्लेष–दुःख व्यतिकर विषमः
वामाक्षीणाम् अवज्ञा विहसित–वसतिः वृद्धभावः अपि असाधुः
रे मनुष्याः संसारे स्वल्पम् सुखम् किंचित् अपि अस्ति यदि वदत

शब्दार्थ

गर्भवासे	=	माँ के पेट के भीतर रहते समय	वामाक्षीणाम्	=	तिरछी नयनों वाली युवतियों के
अमेध्य मध्ये	=	मलमूत्र के बीच में (बच्चा)	अवज्ञा	=	निरादार के साथ
			विहसित–वसतिः	=	हँसी के योग्य
नियमित	=	सिकुडे हुए	वृद्धभावः अपि	=	बुढ़ापा भी
तनुभिः	=	शरीर के साथ	असाधुः	=	बुरा है, (इसलिए)
कृच्छ्रेण	=	कष्ट से			
स्थीयते	=	रहता है,	रे मनुष्याः	=	अरे लोगों
यौवने च	=	जवानी में भी	संसारे	=	संसार में
उपभोगः	=	सुखभोग	स्वल्पम् सुखम	=	थोड़ा सा सुख
कान्ता	=	प्रेयसी के	किंचित् अपि	=	कुछ भी
विश्लेष–दुःख	=	वियोग का दुःख	अस्ति यदि	=	यदि हो तो
व्यतिकर	=	अधिक	वदत	=	बताओ।
विषमः	=	कष्ट कारक होता है			

भावार्थ

संसार में बच्चे के रूप में पैदा होने से पहले ही मां के पेट में मलमूत्र के साथ सिकुडे पड़े रहना पड़ता है। जवानी में प्रेयसी के वियोग का दुःख भोगना पड़ता है। बुढापे में युवतियों की दिल्लगी का शिकार बनना पड़ता है। बताओ तो जिन्दगी में कहाँ सुख धरा है!

विशेषार्थ

इस प्रकार माँ के पेट से लेकर मसानघाट तक कभी भी सुख नहीं मिलता। सारा जीवन दुख में बीतता है। इस श्लोक में यही सिद्ध किया गया

है कि जीवन में सुख है ही नहीं। पिछले श्लोक में बताया गया था कि जिन वस्तुओं से शरीर को सुख मिलता है, वह अस्थाई हैं। इस श्लोक में बताया है कि बाहर की वस्तुओं को छोड़ भी दें तो जिस शरीर के लिए सुख की इच्छा करते हैं स्वयं उस शरीर को भी आदि से अंत तक दुख ही दुख है। भोगी शरीर या भोग्य वस्तु दोनों में भी स्थाई सुख को पाने या देने की शक्ति नहीं है। तिस पर भी यदि लोग शरीर या धन-सम्पत्ति पर घमंड करें और उसमें सुख की खोज करें तो यह उनकी मूर्खता है।

श्लोक ३५

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्।

पदच्छेद

व्याघ्रीव = व्याघ्री + इव
रोगाश्च = रोगाः + च
भिन्नघटादिवाम्भो = भिन्नघटात् + इव + अम्भः
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति = लोकः + तथा + अपि
+ अहितम् + आचरति + इति

पदान्वय

जरा व्याघ्री इव परितर्जयन्ती तिष्ठति
रोगाः च शत्रव इव देहम् प्रहरन्ति
आयुः भिन्न घटात् अम्भः इव परिस्रवति
तथा अपि लोकः अहितम् आचरति इति चित्रम्

शब्दार्थ

जरा	= बुढ़ापा	भिन्न	= फूटे
व्याघ्री इव	= बाघिन की तरह	घटात्	= घडे से
परितर्जयन्ती तिष्ठति	= डराता खड़ा है,	अम्भः इव	= पानी के समान
रोगाः च	= तरह तरह के रोग भी	परिस्रवति	= चुए जा रही है
		तथा अपि	= तब भी
शत्रव इव	= शत्रुओं की तरह	लोकः	= लोग
देहम्	= शरीर को	अहितम्	= बुराई
प्रहरन्ति	= प्रहार कर रहे हैं, (पीट रहे हैं)	आचरति	= किया करते हैं
		इति चित्रम्	= यह (देखकर) आश्चर्य होता है।
आयुः	= उम्र		

भावार्थ

बुढ़ापा बाघ बन कर सामने खड़ा है। तरह तरह के रोगों से शरीर को ऐसी पीड़ा हो रही है मानो दुश्मन बेदर्दी के साथ लाठियाँ बरसा रहा है। उम्र ऐसे बीती जा रही है जैसे फूटे घडे से पानी। तिस पर भी लोग कुपथ नहीं छोड़ते।

विशेषार्थ

केवल बुढ़ापे से ही सदा डर क्यों लगा रहता है? शुरू से तो बुढ़ापा होता नहीं। बचपन तथा यौवन के दिन चैन के साथ कटते हैं। पर यह भी सब जानते हैं कि बुढ़ापा तो आकर रहेगा। बुढ़ापे में कैसे कैसे कष्ट उठाने पड़ते हैं, यह पीछे बताया जा चुका है। ऐसा बुढ़ापा यदि शेर बनकर सामने खड़ा हो तो शरीर की ठीक वही दशा होती है जो उस बकरी की होती है जिसे खिलाया पिलाया तो खूब जाय किंतु बंधी रहे वह शेर के पिंजडे के सामने। बकरी डरके मारे अधमरी हो जायगी। मनुष्य की भी यही दशा है। रोग शरीर की ताड़ना करते हैं। उस ताड़न से सारे अंग चूर चूर हो जाते हैं। इसीलिए आगे फूटे घडे की मिसाल दी गयी है। कभी कभी घडे की शकल तो ज्यों की त्यों बनी रहती है पर उसका सारा पानी पचर जाता है। इसी तरह मनुष्य का शरीर रह जाता है और प्राण निकल जाते हैं।

अंत में कहा गया है कि यह सब देखते हुए भी मनुष्य कुपथ नहीं छोड़ता। क्या कुपथ पर चलने से ही रोग, बुढ़ापा और मृत्यु आती है? क्या सुपथगामी बनने से इन सबसे छुटकारा हो जाता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि कुपथ चलने से रोग अधिक घेरते हैं, बुढ़पा जल्दी आता है और जल्दी मर भी जाते हैं। इसके विपरीत सुपथ पर रहने से रोग दूर दूर रहते हैं। बुढ़ापा भी देर में आता है। यदि बुड्ढे हो भी जायँ तो मन में यौवन का उत्साह बना रहता है। अंत में मृत्यु को भी जीता जा सकता है। कम से कम यह तो निश्चित है कि सन्मार्ग पर चलने से मनुष्य इन रोग आदि से भयभीत नहीं होता। भय को जीतना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। जहाँ जीवन है वहाँ मृत्यु नहीं। अचरज की बात यही है कि मनुष्य जानबूझकर जीते जी मृत्यु के मुँह में फँस जाता है।

श्लोक ३६

भोगास्तुंग-तरंगभंगतरलाः प्राणाः क्षण-ध्वंसिनः
स्तोकान्येव दिनानि यौवन-सुख-स्फूर्तिः प्रियासु स्थिता
तत्संसारमसारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधकाः
लोकानुग्रह-पेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्।

पदच्छेद

भोगास्तुंग = भोगाः + तुंग
स्तोकान्येव = स्तोकानि + एव
तत्संसारमसारमेव = तत् + संसाराम् + आसारम् + एव

पदान्वय

भोगाः तुंग तरंग भंग तरलाः प्राणाः क्षण ध्वंसिनः प्रियासु यौवन सुख स्फूर्तिः स्तोकानि दिनानि एव स्थिता तत् बोधकाः बुधाः निखिलम् संसारम् असारम् एव बुद्धवा लोक अनुग्रह पेशलेन मनसा यत्नः समाधीयताम्

शब्दार्थ

भोगाः	= सुख भोग	बोधकाः	= परोपदेश करनेवाले
तुंग	= ऊँचे	बुधाः	= जानकार लोग, ज्ञानी
तरंग	= लहरों के	निखिलम्	= तमाम
भंग	= टूट कर गिरने के समान	संसारम्	= संसार को, संसार की सभी वस्तुओं को
तरलः	= चंचल हैं,	असारम् एव	= निस्सार ही
प्राणाः	= प्राण	बुद्ध्वा	= जान कर
क्षण ध्वंसिनः	= क्षण भर में नष्ट होनेवाले हैं,	लोक अनुग्रह	= लोगों की या संसार की भलाई के प्रति
प्रियासु	= प्रेमिकाओं में	पेशलेन मनसा	= डब डबाये मन से
स्थिता	= थमनेवाली	यत्नः समाधीयताम्	= कर्तव्य कर्म करें, ब्रह्म ज्ञान की प्राप्तिका प्रयत्न करें
यौवन	= जवानी की		
सुखस्फूर्तिः	= सुख की तमतमाहट		
स्तोकानि	= थोड़े		
दिनानि एव	= दिनों की ही है,		
तत्	= इसलिए		

भावार्थ

सांसारिक सुख पानी की लहरों के समान तनिक ही देर में भंग होनेवाले हैं। यह हमारे शरीर क्षण भर बाद रहेंगे या नहीं, इसका भी भरोसा नहीं है। जवानी की रंग-रलियाँ चार दिन की चाँदनी मात्र हैं। इसलिए जानकार पंडितों को चाहिए कि सारे संसार को असार जानें और केवल शुद्ध परोपकार के विचार से योगाचित्त हो कर कर्तव्य कर्म करते रहें औप ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में भोगों की जो अस्थिरता बताई गयी थी उसी की चर्चा करते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को संसार में किस प्रकार जीवन बिताना चाहिए। श्लोक के पहले दो पदों में जो बात कही गयी है वह

पिछले श्लोक में भी है। किन्तु बाद के दो पदों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

यहाँ पर उन लोगों की ओर संकेत है, जो विद्वान तथा जानकार बनते हैं और जो भलीभांति जानते भी हैं कि संसार की वस्तुएँ स्थाई नहीं हैं, किन्तु परोपदेश मात्र में सन्तोष कर लेते हैं; न वह स्वयं उस पर अमल करते हैं और न दूसरों को ही इसका विचार रख कर अपने जीवन को ढालने की शिक्षा देते हैं। "बुधाः," "बोधकाः" के शब्दों में ऐसे लोगों पर एक प्रकार का व्यंग है। उन्हें स्पष्ट कहा गया है कि यदि तुम्हें अन्य लोगों के प्रति सहानुभूति तथा प्रेम हो तो कोरे परोपदेश के जबानी जमा-खर्च से काम न चलने का। सीधा उपाय तो यह है कि तुम खुद अपने मन के भीतर औरों के प्रति सच्ची सहानुभूति पैदा कर लो और दूसरों को उपदेश देने की आदत को छोड़ कर उन बातों पर तुम स्वयं अमल करने की चेष्टा करो। यह काम पंडित तथा ज्ञानियों के लिए भी सरल नहीं है। कठिन प्रयत्न से ही इसकी सिद्धि हो सकती हैं। क्योंकि जिन वस्तुओं से सुख प्राप्त हो रहा है उनके सम्बन्ध में यह समझ लेना बड़ा कठिन है कि उनमें कोई सार ही नहीं है, और फिर उन्हें निस्सार समझ कर भी करते रहना और भी अधिक कठिन है। यदि पहला काम साधारण लोगों के लिए दुस्साध्य है तो दूसरा पंडितों और ज्ञानियों के लिए भी कठिन-साध्य है। किन्तु स्वयं अपना उद्धार करने और दूसरों से सच्ची सहानुभूति दिखाने और उन्हें भी उसी प्रकार करने के लिए प्रेरित करने का यही उत्तम उपाय है। "यत्नः समाधीयताम्" का यही अभिप्राय लेना चाहिए। परब्रह्म परमात्मा के ध्यान से भी इसका अभिप्राय लिया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के अर्थ से बीच में कई बातों को छोड़ कर एकदम एक लम्बी उड़ान हो जाएगी। उस तक जहुँचने में बीच में कई सीढ़ियाँ और भी हैं, जिनकी आगे क्रम से चर्चा होगी।

श्लोक १७

भोगा मेघ-वितानमध्य विलसत्सौदामनी चञ्चला
आयुर्वायु-विघट्टिताब्ज-पटली-लीनाम्बुवद्भंगुरम्
लोला यौवन-लालसास्तनुभृततामित्याकलय्य द्रुतम्
योगे धैर्य्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धि विदध्वं बुधाः।

पदच्छेद

विलसत्सौदामनी = विलसत् + सौदामनी
आयुर्वायु = आयु: + वायु
विघट्टिताब्ज = विघट्टित + अब्ज
लीनाम्बुवद्भंगुरम् = लीन + अम्बुवत् + भंगुरम्
लालसास्तनु = लालसा: + तनु
भृतामित्याकलय्य = भृताम् + इति + आकलय्य

पदान्वय

तनुभृताम् भोगा: मेघ–वितान मध्य विलसत् सौदामनी चञ्चला: आयु: वायु–विघट्टित–अब्ज–पटली–लीन अम्बुवत् भंगुरम् यौवन–लालसा: लोला: इति आकलय्य
बुधा: धैर्य समाधि सिद्धि सुलभे योगे बुद्धिम् द्रुतम् विदध्वम्

शब्दार्थ

तनुभृताम्	= शरीर धारी प्राणियों के लिए	भंगुरम्	= टूट जाने वाला है, समाप्त होने वाला है,
भोगा:	= सुख भोग	यौवन–लालसा:	= जवानी की उमंगें
मेघ–वितान	= दल बादलों के .	लोला:	= अस्थिर हैं,
मध्य	= बीच	इति आकलय्य	= इस प्रकार विचार कर
विलसत्	= चमकने वाली		
सौदामनी	= बिजली (के समान)	बुधा:	= हे ! बुद्धिमानों (अपनी)
चञ्चला	= चंचल हैं,		
आयु:	= जीवन	बुद्धिम्	= बुद्धि को
वायु–विघट्टित	= हवा के झोंके से तितर बितर किये गये	धैर्य समाधि	= चित्त की स्थिरता
		सुलभे	= सुगमता से सिद्धि प्राप्त होने वाले
अब्ज–पटली	= कमल के पत्ते पर	सिद्धि–योगे	= योग में
लीन	= लगे हुए	द्रुतम्	= शीघ्रता से
अम्बुवत्	= पानी के समान	विदध्वम्	= लगाओ,

भावार्थ

बादलों के बीच एकाएक चमक कर गायब होने वाली बिजली की रेखा के समान भोग सामग्री अति चंचल और अस्थाई है। हवा के झोंकों से लहलहाते कमल के पत्तों पर तैरने वाली पानी की बूंद के समान जीवन एकदम अस्थिर है। जवानी की उमंगें भी अस्थाई हैं। बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि इन सब बातों को भली भांति समझ ले और अपने मन को स्थिरता और धैर्य के साथ योग-साधना में लगावे।

विशेषार्थ

भोगों को बिजली की चमक और जीवन को कमल के पत्तों पर तैरने वाले पानी की बूंद की उपमा देकर उनकी अस्थिरता दिखायी गयी है। पर इससे भी कहीं अधिक मतलब इसमें छिपा है। बादलों में चमक क्षण भर के लिए होती है। उससे पहले और बाद भी घुप अंधेरा ही छाया रहता है। इसी प्रकार कमल के पत्तों पर के पानी की बात है। पत्ता पानी के रहने की जगह नहीं हैं। केवल हवा के झोंकों से चंद बूंद पत्तों पर आ–ठहरती हैं, और हवा के साथ टूट कर नीचे गिर भी जाती हैं। उस थोडी देर के लिए भी वह पानी की बूंद पत्तों पर एक जगह स्थिर नहीं रहती। हाँ, जितनी देर रहती है सुन्दर मोतीसी झलकती है। शरीरधारी मनुष्य के सांसारिक सुख भी ऐसे ही हैं। बडी सी झील में पानी की एक बूंद की हैसियत ही क्या है ? ईश्वर की सृष्टि में इतनी सारी वस्तुएँ हैं और इतनी अधिक मात्रा में हैं कि एक व्यक्ति चाहे कितनी ही धन सम्पत्ति तथा सत्ता प्राप्त करले, तब भी वह झील भर के पानी के सामने एक बूंद के समान नहीं हो सकना, और वह भी क्षण भर के लिए। केवल हवा का एक हल्कासा झोंका उसे उड़ा ले जाता है। अस्तु।

सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता को अच्छी तरह समझ लें और उनके प्रति ऐसी ही भावना रखें, तभी योग की साधना संभव है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब तक मन के भीतर भोगों के प्रति तनिक भी विश्वास या लालसा रहे तब तक साधना संभव नहीं। यदि मनमें इनकी वास्तविक स्थिति का निश्चय भी हो जाय तब भी आतुरता से काम न चलने का। धैर्य के

साथ साधना करनी होगी। अर्थात् योग की साधना के लिए दोनों की आवश्यकता है, और यह दोनों जहाँ हो जायें शेष कार्य सरल हो जाता है। और साधक सरल ही सिद्धि को प्राप्त हो सकता है।

श्लोक ३८

भोगा भंगुरवृत्तयोबहुविधास्तैरेव चायं भव
स्तत्कस्येह कृते परिभ्रमत रे लोकाः कृतं चेष्टितैः
आशा–पाश शतोपशांतिविशदंचेतः समाधीयताम्
कामोत्पत्तिवशात्स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः।

पदच्छेद

बहुविधास्तैरेव = बहुविधाः + तैः + एव
चायम् = च + अयम्
भवस्तत्कस्येह = भवः + तत् + कस्य + इह
शतोपशान्ति = शत + उपशान्ति
कामोत्पत्ति = काम् + उत्पत्ति
श्रद्धेयमस्मद्वचः = श्रद्धेयम् + अस्मत् + वचः

पदान्वय

बहु विधा भोगः भंगुरवृत्तयः तैः एव अयम् भवः तत् रे लोकाः इह कस्य कृते परिभ्रमत चेष्टितैः कृतम् यदि अस्मत् वचः श्रद्धेयम् आशा-पाश-शत-उपशांति-विशदम् चेतः काम उत्पत्ति वशात् स्वधामनि समाधीयताम्

शब्दार्थ

बहु विधा	= भांति-भांति के	तैः एव	= उन ही (भोगों) द्वारा
भोगाः	= भोग	अयम्	= यह
भंगुरवृत्तयः	= स्वभावतया नाशवान हैं,	भवः	= संसार (बना है)
		तत्	= इसलिए

रे लोकाः	=	हे लोगों	आशा	=	आशा रूपी
इह	=	इस संसार में	पाश शतं	=	सैकड़ों फांसों से
कस्य कृतेत	=	किसके लिए			
परिभ्रमतः	=	मारे-मारे फिरते हुए	उपशांति	=	शान्त हुआ
चेष्टितैः कृतम्	=	ऐसे काम किये जाते हो,	विशदम् चेतः	=	निर्मल चित्त को
यदि	=	अगर	काम उत्पत्ति वशात्	=	संकल्प मात्र से उत्पन्न होनेवाले
अस्मत्	=	हमारी			
वचः	=	बातें	स्वधामनि	=	अपने धाम अर्थात् परब्रह्म में
श्रद्धेयम्	=	श्रद्धा के योग्य हों, यदि हमारी बातों में श्रद्धा हो तो	समाधीयताम्	=	स्थिर किये जाओ

भावार्थ

सभी भोग क्षणभंगुर हैं। यह संसार ही क्षणभंगूर वस्तुओं से बना है। संसार का कोई सुख स्थाई नहीं है। इसलिए सुख के फ़िराक में मारे-मारे फिरना व्यर्थ है। मनुष्य को चाहिए कि सांसारिक सुखों की हविस छोड़ दे और अपने विशुद्ध मन को परमात्मा में लगा दे।

विशेषार्थ

इस श्लोक में दो बातों की चर्चा है—एक भोग, दूसरा ब्रह्म ! दोनों एकदम अलग-अलग विषय हैं। भोग अनेक प्रकार के हो सकते हैं और सभी भोग क्षणिक होते हैं। इसलिए जल्द ही एक प्रकार के सुख से अघा जाने या लालच के कारण दूसरे प्रकार के सुख की इच्छा होती है और उसके लिए संसार भर छान मारना पड़ता है। मान लें बहुत कुछ सिर मारने के बाद उसकी प्राप्ति हो जाती है। संसार क्षण भंगुर है, इसलिए जितने भी सुख यहाँ उपलब्ध हैं वह क्षण भर ही सुख दे सकते हैं। हुआ क्या ? अपार दुख और क्षणिक सुख, और उसके भी क्षीण हो जाने का भय। अतः मनुष्य को एक छोटे से सुख की खोज में चल कर अनगिनत सुखों की चाह करनी पड़ती है, पर हर सुख में प्रायः दुख ही प्राप्त होता है।

इसके विपरीत ब्रह्म एक है। इसलिए उसे छोड़ दूसरे के पीछे भागने की नौबत नहीं आती। वह सर्वव्यापी है, इसलिए उसके लिए कहीं जाना नहीं पड़ता। वह शाश्वत है, सर्वोच्च है इसलिए दूसरे पदार्थ की हविस नहीं सताती। हविस के छूटने से मोह-पाश से भी मुक्ति हो जाती है। इस से मन शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त ही परमात्मा में लगाया जा सकता है। इसी परमात्मा परब्रह्म को प्राणिमात्र का स्वधाम कहा गया है।

अपने धाम पर पहुँचने पर मनुष्य को इधर-उधर भटकने की और कष्ट उठाने की परेशानी दूर हो जाती है। स्वधाम के माने 'अपना घर' भी होता है। जो लोग घर द्वार छोड़ कर भभूत लगा कर भ्रमण करते हैं उनकी, शायद, यहाँ भर्त्सना की गयी है। धन कमाने के लिए संसार का भ्रमण करनेवाले और मुक्ति की खोज में तीर्थ यात्रा करनेवाले और वन-पर्वत घूमनेवाले के बीच अधिक अन्तर नहीं है। दोनों ही भ्रम में पड़ कर भ्रमण कर रहे हैं और ब्रह्म से दूर हैं।

इसलिए स्वधाम यानी अपने ही घर रह कर आनन्द भोगा जा सकता है। हमारा यह घर स्थाई नहीं है। ज्यादा से ज्यादा केवल इसी जीवन के लिए है। प्राय: यह भी होता है कि जिसे हम अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते हैं वह भी छूट जाती है। अन्न-जल हमें कहीं और खींच ले जाता है। चाहे जहाँ रहें, जितनी देर के लिए रहें, उसे सम्हाल कर रहें। कहीं यात्रा पर जाते हैं, किसी धर्मशाला में एक शाम के लिए ठहर जाते हैं, पर उतनी देर के लिए भी हमें चाहिए कि धर्मशाला की चीजों को खराब न करें। जिस कोठरी में रहें झाड़-पोंछ कर रहें, पर जब चलें तब उसके साथ कोई मोह न रखें। यही हाल घर-गृहस्थी का है, शरीर का है। वह धर्मशाला एक दिन के लिए है और यह घर की सराय एक जीवन के लिए है। असली स्वधाम तो वह है जहाँ से हम आए हैं, पैदा होने से पहले हम जहाँ थे, और मरने के बाद जहाँ जाएँगे, चाहे एक ही जन्म के बाद हो या अनेक जन्मों के बाद। हम तो भगवान के अंश हैं और अंततोगत्वा हमें भगवान में ही लीन होना है। इस प्रकार हमें दोनों धामों को निभाना है— संसार को भी और परमार्थ को भी।

श्लोक ३९

**आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री
र्र्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम्
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्।**

पदच्छेद

श्रीरर्थाः = श्रीः + अर्थाः
तटिद्विभ्रमा = तडित् + विभ्रमा
कण्ठाश्लेषोपगूढम् = कण्ठ + आश्लेष + उपगूढम्
यत्प्रियाभिः = यत् + प्रियाभिः
ब्रह्मण्यासक्त = ब्रह्मणि + आसक्त
भयाम्भौधि = भय + अम्भोधि

पदान्वय

आयुः कल्लोललोलम् यौवनश्रीः कतिपयदिवस स्थायिनी अर्थाः संकल्प कल्पाः भोगयूगाः घन समय तटित् विभ्रमाः प्रियाभिः प्रणीतम् कण्ठ आश्लेष उपगूढ़म् तत् अपि चिरम् न भव भय अम्भोधि पारम् तरीतुम ब्रह्मणि आसक्त चित्ताः भवत

शब्दार्थ

आयुः	=	जीवन	अर्थाः	=	धन—सम्पत्ति
कल्लोल	=	पानी की लहरों के समान	संकल्प—कल्पाः	=	केवल ख्याली वस्तु है,
लोलम्	=	ढलकर नष्ट होने वाला है,	भोग पूगाः	=	भोग—समूह, सकल सुख
यौवन श्रीः	=	जवानी की शोभा	घन समय	=	वर्षा के बादलों में के समान
कतिपय दिवस	=	थोडे दिन	तडित्	=	बिजली की चमक
स्थायिनी	=	रहने वाली है,	विभ्रमाः	=	भ्रम कारक है,

प्रियाभिः	= प्रेमिकाओं के साथ	भय अम्भोधि	= भय के सागर को
प्रणीतम्	= की गयी	परम् तरीतुम	= पार उतरने के लिए
कण्ठ आश्लेष उपगूढम्	} गलमिलौंवल (जो है)	ब्रह्मणि	= पर ब्रह्म में
तत् अपि	= वह भी	असक्त चित्ताः	= चित्त को लगाने वाले
न चिरम	= स्थाई नहीं है,	भवत	= बनो अर्थात् भगवत् भजन में मन लगाओ
भव	= (इसलिए) संसार के		

भावार्थ

जीवन पानी की लहरों के समान चंचल है। इस छोटे से जीवन में यौवन की शोभा कुछ ही दिनों की मेहमान है। धन सम्पत्ति मन के लड्डू हैं। सुख-भोग वर्षा काल की बिजली के समान क्षणभर की झलक है, प्रेमिकाओं का आलिगन भी स्थायी नहीं है। इसलिए संसार रूपी सागर से पार उतरने का एकमात्र उपाय है परब्रह्म परमात्मा में चित्त लगाना।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में स्वधाम की बात कही गयी थी। स्वधाम दोनों ही हो सकते हैं एक जहाँ हम जीवन के दो दिन रह लेते हैं और दूसरा वह जहाँ से हम इस संसार में आये हैं और जहाँ फिर चले जायेंगे। इस श्लोक में संसार के घर को अस्थायी बताकर स्वधाम यानी स्थायी घर की ओर संकेत किया गया है। संसार को सागर कहा गया है। सागर में सदा रहना तो नहीं है, कहीं न कहीं घाट लगना होगा। परन्तु जब तक घाट नहीं लगते तब तक तो आफ़तों का सामना करना है ही। समुद्र में रहें और खतरे न रहें, यह तो हो नहीं सकता। मतलब यह कि संसार में जन्म लेने के बाद कुछ दिन यहाँ रहना ही होगा। बाल-बच्चे, घर-द्वार, धन-दौलत का जुट जाना भी स्वाभाविक है। किंतु इन चीजों में मन न लगावें, इसी पर जोर दिया गया है।

मनुष्य के साथ मन लगा हुआ है। उसे कहीं न कहीं लगना ही है। स्वभावतः मन उन्हीं वस्तुओं में लगेगा जो हमारे निकटतम हैं। किंतु इनमें मन लगाने में जोखिम है, क्यों कि ये सब आस्थिर हैं। उनके छूट जाने का डर रहता है। इसके विपरीत हमारे निकट इन भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त और भी

एक वस्तु है। वह हमसे बाहर नहीं है, हमारे भीतर ही है, हमारे निकटतम है, और वह है परब्रह्म परमात्मा। इसीलिए उस परमात्मा में मन लगाने को कहा गया है। क्यों? इसलिए कि वह शाश्वत है, अतः वह निश्चय ही शांतिप्रद है। परब्रह्म में चित्त लगाने के माने संसार को छोड़ना नहीं है। जबतक शरीर है तबतक संसार भी है। उसे छोडेंगे कैसे? समुद्र को पार करना हो तो समुद्र के बीच ही से गुजरना होगा। सांसारिक वस्तु दारा-पुत्र, धन-सम्पत्ति के सुख-दुख को भोगते हुए ही संसार से छुटकारा पा सकते हैं। संसार रूपी समुद्र को पार करने का साधन ब्रह्म-चिंतन है। संसार में रहते हुए परमात्मा में चित्त न लगावेंगे तो इस सागर में हम गोते ही खाते रहेंगे और कभी घाट नहीं लगेंगे। परब्रह्म में चित्त को स्थिर करने पर सुखों को भोगते हुए भी संसार के बंधन से छुटकारा पा जायेंगे।

श्लोक ४०

ब्रह्मेंद्रादिमरुद्गणांस्तृणकणान् यत्र स्थितो मन्यते
यत्स्वादाद्विरसा भवंति विभवास्त्रैलोक्यराज्यादयः
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते
भो साधो क्षणभंगुरे तदितरे भोगे रतिम् मा कृथाः।

पदच्छेद

ब्रह्मेंद्रादि = ब्रह्म + इन्द्र + आदि
मरुद्गणास्तृणकणान् = मरुत् + गणान् + तृण + कणान्
यत्स्वादाद्विरसा = यत् + स्वादात् + विरसा
विभवास्त्रैलीक्यराज्यादयः = विमवाः + त्रैलोक्य + राज्य + आदयः
कोऽपि = कः + अपि
नित्योदित = नित्य + उदित
तदितरे = तत् + इतरे

पदान्वय

यत्र स्थितः ब्रह्म, इन्द्र आदि मरुत् गणान् तृण कणान् मन्यते
यत् स्वादात् त्रैलोक्य राज्य आदयः विभवाः विरासा भवन्ति
कः अपि भोग स एक एव परमः नित्य उदितः जृम्मते
भो साधो तत् इतरे क्षण भंगुर भोगे रतिम् मा कृधाः

शब्दार्थ

यत्र	=	जहाँ, जिस ब्रह्म में	कः अपि भोगः	=	कुछ भी हों वह भोग
स्थित	=	रह कर	स एक एव	=	वह एक ही
ब्रह्मा	=	सृष्टिकर्ता ब्रह्मा	परमः	=	सब से श्रेष्ठ सुख है
इन्द्र	=	स्वर्गाधिपति इन्द्र	नित्य उदितः	=	(जो) सदा नव-जीवन से भर कर
आदि	=	वगैरा	जृम्भते	=	विराजमान रहता है,
मारुत् गणान्	=	देव समूह को	भो साधो	=	हे ! साधो
तृण कणान्	=	तिनके के कण (के समान)	तत् इतरे	=	उसको छोड़ दूसरे
मन्यते	=	समझता हो,	क्षण भंगुर	=	क्षण भर में नष्ट होनेवाले
यत्	=	जिस (ब्रह्म) के	भोगे	=	भोगों में
स्वादात्	=	स्वाद से	रेतिम्	=	प्रीति
त्रैलोक्य	=	तीनों लोकों के	माकृधाः	=	मत करो
राज्य आदयः	=	राज्य आदि			
विभवाः	=	सम्पदाएँ			
विरसा	=	रस हीन, बे मजा			
भवन्ति	=	हो जाते हैं			

भावार्थ

उस परमानन्द का अनुभव करनेवाला पुरुष ब्रह्म, इन्द्र आदि देवताओं को तिनके के समान तुच्छ समझता है। उस आनन्द के सामने तीनों लोकों का राज्य भी उसे फीका जँचता है। असली आनन्द तो उसी में है। वह सदा से है। सदा रहेगा। वह सब से श्रेष्ठ है। उसको छोड़ बाकी सब क्षणिक हैं और तुच्छ हैं। इसलिए मनुष्य को उसी में मन लगाना चाहिए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में सांसारिक भोगों को धिक्कारते हुए ब्रह्म में मन लगाने की बात कही गयी थी। उसमें जो आनन्द है उसका उल्लेख इस श्लोक में है। यह बताया गया है कि स्वर्ग आदि जिन ऊँचे से ऊँचे सुखों की कल्पनाएँ हो सकती हैं, वे सब इस ब्रह्मानन्द के आगे किसी गिनती में नहीं हैं। सारे संसार को जन्म देनेवाला ब्रह्मा और उस संसार के सभी पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाला स्वर्ग तथा उस स्वर्ग के अधिपति इन्द्र भी ब्रह्मानन्द के अनुभव करने वाले उस पुरुष को तिनके के एक कण से भी तुच्छ जँचते हैं। यह हुई उस आनन्द के बड़प्पन की बात। अब उसके मूल्य का अनुमान कीजिए। हम लोग छोटे- मोटे धन सम्पत्ति के स्वामी बन कर इतराने लगते हैं। किन्तु उस परमानन्द का एक बार अनुभव करने पर छोटी-बडी सम्पत्ति नहीं, एक आध देश या सारे संसार का साम्राज्य ही नहीं, बल्कि स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इन तीनों लोकों का समूचा वैभव और आधिपत्य भी फीका जँचता है। उस आनन्द का इतना बड़ा दरजा है और वह इतना विपुल है कि किसी से तुलना करके बताया ही नहीं जा सकता। वह तो अपने ढंग का एक ही है। वह सदा से है और सदा रहेगा। उसमें कभी कोई कमी नहीं हो सकती। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि सृष्टिकर्ता होने पर भी ब्रह्मा सदा रहनेवाला नहीं है। संसार भर के पुण्यों से प्राप्त होनेवाली इन्द्र-पदवी भी अस्थाई है। इन लोकों का अधिपत्य भी सदा एक ही के हाथ में रहा हो, इसमें भी शक है। कम से कम वह लोक तो बने रहेंगे, इस शंका को भी मिटाने के लिए इन लोकों को क्षणिक कहा गया है। ब्रह्मादि तृण-कण हैं तो उसके लोक क्षणिक हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट किया गया है कि वह ब्रह्मानन्द बड़प्पन या मूल्य की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि अवधि के हिसाब से भी उसका कहीं ओर-छोर नहीं है।

यार लोग इस 'ब्रह्मानन्द' को कल्पना मात्र कह कर उड़ा सकते हैं, उड़ाते ही हैं। जरूर, जब तक अनुभव न करें तब तक वह कल्पना ही है। एक दरिद्र यदि धनाढ्य बनने की बातें करे तो वह भी तो कल्पना है। एक गिरी हुई दशा में पड़ा हुआ व्यक्ति यदि बडी-बडी बातें कहे तो समाज उसका मज़ाक उड़ाता ही है। पर हम रोज देखते हैं कि इस करोडों की दुनिया में सैंकडों गरीब देखते-देखते धनी बन जाते हैं। अपढ़ भी विद्वान बन जाते हैं। इसलिए सिद्धान्त के रूप में सांसारिक वैभव की प्राप्ति को असंभव नहीं माना जा सकता। मज़ाक उड़ाया जानेवाला व्यक्ति कभी-कभी मर्यादा का पात्र भी बन जाता है, तो

उसी प्रकार करोडों में सैंकडों नहीं, तो एक-आध तो ऐसा हो ही सकता है जो उस ब्रह्मानन्द को भी प्राप्त हो जावे। ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं और सैंकडों वर्षों के बाद एक आध दृष्टि-गोचर होते है। तब भी हम उस व्यक्ति को तो देख सकते हैं किन्तु उसके आनन्द को देख नहीं सकते। इसलिए हमें उनका विश्वास नहीं होता। अधिक से अधिक लोग एक आध को महात्मा कह देंगे, नहीं तो पागल जरूर कह देंगे सैंकडों को। वास्तव में संसार का यह व्यवहार दोनों ही दशाओं में सत्य से दूर है। क्योंकि वह महान-आत्मा प्रत्येक मनुष्य के अन्दर विद्यमान है और पागल-पन भी प्रत्येक व्यक्ति में है—कोई किसी विषय में तो कोई किसी मात्रा में।

बहुत हिचक के बाद इन पंक्तियों का लेखक एक आध वाक्य स्वानुभव के सम्बन्ध में कह देना ही चाहता है। अगर ब्रह्मानन्द वही है, शायद वही है, तो लेखक अपने उस उच्च या तुच्छ अनुभव के आधार पर कह देना चाहता है कि सचमुच इन्द्रादि पद तथा स्वर्गादि सुख उसके सामने एकदम तुच्छ हैं। हर एक व्यक्ति इसका अभ्यास कर सकता है। मगर अनुभव कब करेगा, कैसे करेगा, यह कहा नहीं जा सकता। यदि एक बार क्षण भर के लिए उस परमानन्द का अनुभव हो जाए तो निश्चय ही संसार भर के वैभव के बदले में उस परमानन्द की प्राप्ति की लालसा को त्याग न सकेगा।

चतुर्थ दशक का सारांश

श्लोक नं—३१ संसार में भोगों के साथ सदा भय लगा हुआ है।
—३२ जन्म से मरण तक विपदा ही विपदा है।
—३३ सदा चिन्ताएँ सताती रहती हैं।
—३४ माँ के पेट से ले कर मसान घाट तक चैन नहीं है।
—३५ मनुष्य कष्ट झेलते हैं, पर मूर्खता नहीं छोडते।
—३६ सुख सम्पत्ति अस्थिर है; योग साधना से चित्त को स्थिर करना चाहिए।
—३७ धैर्य के साथ साधना करने से चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है।

–३८ लोभ-लालच छोड कर कर्तव्य कर्म करते हुए परमपद की चेष्टा करनी चाहिए ।

–३९ संसार-सागर से तरने का एक मात्र उपाय ईश्वर-चिन्तन है ।

–४० ब्रह्मानन्द के सामने तीनों लोकों का आधिपत्य भी तुच्छ है ।

इस प्रकार इस दशक में संसार ही नहीं, स्वार्गादि सुखों को भी अस्थाई सिद्ध करने के बाद मनुष्य को सर्व त्यागी बन कर साधु-जीवन की शिक्षा देते हुए आगे के श्लोकों में साधु-सन्त की उच्चता को सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है ।

श्लोक ४१

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामंतचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात् स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः ।

पदच्छेद

परिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः = परिषत् + ताः + चन्द्रबिम्ब + आननाः

निवहस्ते = निवहः + ते

वन्दिनस्ताः = वन्दिनः + ताः

वशादगात् = वशात् + अगात्

पदान्वय

सा रम्या नगरी सः महान् नृपतिः तत् सामन्त चक्रम् च तस्य पार्श्वे सा विदग्ध परिषत् ताः चन्द्र-बिम्ब-आननाः सा उद्वृत्त राजपुत्र निवः ते वन्दिनः ताः कथाः सर्वं यस्य वशात् स्मृति-पथम् अगात् तस्मै कालाय नमः

शब्दार्थ

सा	= वह	च	= और
रम्या	= सुन्दर	सा	= वह
नगरी	= शहर	उद्वृत्तः	= बल पौरुष वाले अथवा उद्दण्ड
स महान	= वह बड़ा	राज पुत्र निवहः	= राजकुमारों के समूह
नृपतिः	= राजा	ते वन्दिनः	= वह स्तुति गान करने वाले
तत्	= (और) वह	च	= और
सामन्त-चक्रम्	= आधीन राजाओं का समूह	ताः कथाः	= वह बातें
तस्य	= उसके	सर्वम्	= सब
पार्श्वे	= अगल बगल	यस्य वशात्	= जिसकी महिमा से
सा	= वह	स्मृति-पथम्	= यादगार (मात्र)
विदग्ध परिषत्	= विद्वानों की सभा	आगात्	= बन गये
ताः	= वह	तस्मै कालाय	= उस काल देव को
चन्द्र-बिम्ब-आननाः	= चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख वाली युवतियाँ	नमः	= नमस्कार है।

भावार्थ

रमणीय नगरी थी, विशाल राज्य था, अनेकों सामन्तगण थे, विद्वानों का राज-परिषद था, सुन्दर रानियाँ थीं, प्रतिभाशाली राजकुमार थे, खुशामदी दरबारी थे और मन लुभाने वाली उनकी बातें थीं, यह सबकुछ प्राप्त था, किंतु समय का फेर है कि आज उन सब की एक स्मृति मात्र रह गयी है। काल ऐसा बली है कि कुल धरा का धरा रह गया और मैं अकेला रह गया! इसलिए मैं उस बली काल के सामने माथा नवा कर प्रणाम करता हूँ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में बतलाया गया था कि सुख अस्थाई है। इस दशक में समय की महिमा का वर्णन किया गयाहै। समय ऐसा बली है कि उसके सामने

किसी का कुछ बस नहीं चलता । एक चक्रवर्ती राजा की मिसाल देकर यह बताया गया है कि सारा साम्राज्य, वैभव, दल-बल, सभी काल के कौर बन गये । काल ऐसा बली है कि उसकी सुन्दर राजधानी मिट्टी में मिल गयी, दूर दूर तक फैले हुए साम्राराज्य का अंत होगया, जो छोटे बडे राजा उनके इशारे पर उठते बैठते थे, वे आज उसका नाम भी नहीं लेते, सारे दरबारी नौ दो ग्यारह हो गये । अंत में जो रानी और राजकुमार थे उनका भी संग छूट गया । पहले सार्वभौम साम्राट था, अब सर्वहारा सन्यासी है । यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब तक राज-पाट था, तब तक राजमहल था, सदा दरबार भरा रहता था, खूब आव भगत और खुशामद होती थी ।

खुशामद क्या है ? इसमें केवल गुण-गान ही नहीं होता; जो थोडा सा गुण हो उसे बढ़ाकर बखाना जाता है । किंतु यह तभी तक होता है जबतक वह अधिकारारूढ होता है । ज्यों ही वह सत्ताहीन हो जाता है, त्यों ही उन ही लोगों को उसमें वे गुण दिखायी नहीं देते जो पहले दीखते थे । यही नहीं, यदि पहले जो अच्छी बातें उसमें नाम मात्र के लिए भी न रही हों उन्हें अपनी तरफ से गढ़ लिया जाता था, तो अब जो बुरी बातें उसमें न हों वह उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं, या अपनी ओर से गढ़ लेते हैं ।

यह श्लोक किसी निरंकुश या अत्याचारी राजा के बारे में नहीं कहा गया है, बल्कि एक ऐसे राजा के बारे में है जिसके पास राज्य की सुव्यवस्था के लिए विद्वानों का एक परिषद था । सब राज-पाट उसी परिषद की रायसे चलता था । ऐसे न्यायशील व्यक्ति के साथ भी दुनिया का ऐसा दुर्व्यवहार होता है । और तो और, स्वयं उसकी रानी और उसके पेट से पैदा हुए राजकुमार भी उसकी ओर से मुंह फेर लेते हैं । यह ठीक है कि यदि कोई व्यक्ति सन्यास ले ले तो उसके स्त्री बच्चे उसे रोक नहीं सकते, रोकना भी नहीं चाहिए । किंतु इतना तो किया ही जा सकता है और करना ही चाहिए कि जब तक वह जीवित रहे तब तक उसकी खैर-खबर तो लिया करें और सेवा शुश्रूषा किया करें । वैराग्य की मूर्ति होते हुए भी अपने पिछले वैभव की स्मृति उसे सता रही है । इसमें संदेह नहीं कि वैराग्य से वह विचलित नहीं हो रहा है, वह अपनी दुर्गति पर रो भी नहीं रहा है; उसे वेदना है केवल अपने परिजनों के दुर्व्यवहार पर । परन्तु उसके लिए किसी को क्या दोष दिया जाय ? संसार की गति ही ऐसी है । इसी को समय या काल कहा गया है ।

समय, काल, इन शब्दों का प्रयोग बुरे दिनों के लिए ही हुआ है। तब ऐसे बुरे समय को प्रणाम करने का क्या मतलब है ? इसके दो मतलब लिये जा सकते हैं। एक तो उस बुरे काल को दूर ही से प्रणाम करना कि वह हम पर कृपा करे और हम से दूर ही रहे। दूसरा अर्थ यह है यि काल स्वयं परमात्मा की इच्छा ही है, वल्कि स्वयं परमात्मा है। इसलिए यह प्रणाम उस परमात्मा के लिए है जो इस संसार चक्र को चलाने वाला है।

श्लोक ४२

यत्रानेकः क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको
यत्राप्येकस्तदनु वहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते
इत्थम् नैयो रजनिदिवसौ लोलयन् द्वाविवाक्षौ
कालः कल्यो भुवनफलके क्रीडति प्राणि शारैः।

पदच्छेद

यत्रानेक = यत्र + अनेक
क्वचिदपि = क्वचित् + अपि
तिष्ठत्यथैकः = तिष्ठति + अथ + एकः
यत्राप्येकस्तदनु = यत्र + अपि + एकः + तत् + अनु
बहवस्तत्र = बहवः + तत्र
चान्ते = च + अन्ते
द्वाविवाक्षौ = द्वौ + इव + अक्षौ

पदान्वय

क्वचित् अपि गृहे यत्र अनेकः तत्र अथ एकः तिष्ठति
यत्र एकः अपि तदनु तत्र बहवः च अन्ते न एकः अपि
इत्थम् कल्यः कालः इमौ रजनि दिवसः द्वौ अक्षौ इव
भुवन फलके लोलयन् प्राणि शारैः क्रीडति

शब्दार्थ

क्वचित् अपि गृहे	= किसी घर में (चौपड़ के खेल में)	अन्ते	= अन्त में
यत्र	= जहाँ	न एकः अपि	= एक भी नहीं रह जाता,
अनेकः	= बहुत से (गोट रहते हैं)	इत्थम् च	= और इस प्रकार
तत्र	= वहाँ	कल्यः कालः	= समर्थ काल–पुरुष
अथ	= अब, बाद में	इमौ	= इस
एकः	= एक ही	रजनी-दिवसौ	= रात दिन को
तिष्टति	= रह जाता है,	द्वौ	= दो
यत्र	= जहाँ (जिस घर में)	अक्षौ इव	= चौपड़ के पासे के समान
एकः अपि	= एक ही (है)	भुवन फलके	= संसार रूपी चौपड़ पर
तत् अनु	= उसके बाद	लोलयन्	= लुढ़का, लुढ़का कर
तत्र	= वहाँ	प्राणि शारैः	= प्राणी रूपी गोटियों से
बहवः	= बहुत से (हो जाते हैं),	क्रीडति	= खेलता रहता है।
च	= और		

भावार्थ

चौपड़ के खेल में ऐसा होता है कि जिस घर में पहले बहुतसे गोट होते हैं वहाँ कभी एक ही गोट रह जाता है। इसी प्रकार जिस घर में एक गोट होता है वहाँ कई एक इकठ्टे हो जाते हैं और अन्त में सब घर खाली हो जाते हैं। खेल समाप्त हो जाता है। इस संसार की लीला भी चौपड़ या जुआ के समान है। काल-पुरुष जुआडी है। सारा संसार चौपड़ है। रात-दिन पासे या कौडी हैं। समस्त प्राणी उसके गोट हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में पुराने वैभव की ओर संकेत करके कहा गया था कि चक्रवर्ती राजाओं को भी काल की महिमा से कैसे दुर्दिन देखने पड़ते हैं। इस

श्लोक में उसी का समाधान है। संसार के व्यापार को जुआ कहा गया है। जुए में जुआड़ी लोग अपनी-अपनी रकम ले कर बैठ जाते हैं। रात भर जुआ चलता है। बाजी पर बाजी लगती है। कभी कोई अपनी सारी कमाई को खो बैठता है और कभी किसी एक ही के पास समूची रक़म इकट्ठी हो जाती है। चाहे जो अपना सारा खो बैठे, या कोई बाकी सबका आप ही बटोर ले, किन्तु रक़म तो वही और उतनी ही रहती है जिसे जुआडी पहले अपने साथ लिए बैठे थे। न कहीं से नई रक़म आती हैं और न वहाँ से पुरानी रक़म कहीं चली जाती है। वही रक़म बराबर चक्कर काटती रहती है। किसी एक के पास टिक कर नहीं रहती। किन्तु जुआ से कोई व्यक्ति धनी हुआ हो, ऐसा देखने में नहीं आता। हाँ, नंगे सभी जरूर हो जाते हैं।

संसार में वैभव, धन-दौलत और परिवार का भी यही हाल है। किसी एक व्यक्ति के यहाँ देखते-देखते बरसात के कीडों के समान नाती पोतों से घर भर जाता है और नई-नई कोठियाँ खडी हो जाती हैं। इसी प्रकार किसी का अचानक दिवाला खसक जाता है और अन्त में अकेला चल बसता है। भाग्यवान भिखारी बनता है। टुकड़ा माँगनेवाला अटारियाँ खडी करता है। यह तो संसार की गति है। सबका यही हाल है—किसी का पहले और किसी का पीछे। यों ही कहने की बात नहीं है—हूबहू यही होता है। आज किसी भी धनी या वैभवशाली कुटुम्ब का पता लगाइए, दो चार पीढ़ियों से पीछे का अता-पता कुछ नहीं लगता। कुछ लोग ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनके पास पीछे के कुछ सौ वर्षों का लेखा आदि मौजूद होता है। इसमें उन लोगों ने कितने ऊँच-नीच देखे हैं वह भी स्पष्ट दिखाई देगा। किन्तु ऐसे व्यक्तियों का करोडों के पीछे एकाध का मिलना भी कठिन है। साधारणतया किसी को बाप-दादा से पीछे की बात याद नहीं पड़ती। परन्तु वही लोग अपने सम्बन्ध में भूल जाते हैं कि यही बात उनके सन्तान की भी हो सकेगी। इसलिए इस संसार रूपी जुए में कौन धनी है और कौन दरिद्र, कौन सुखी है और कौन दुखी, इसका विचार करना ही व्यर्थ है। यह गति तो सभी के सिर मढी है।

इसी बात को दूसरी तरह भी देख सकते हैं। वही जुआ वाली मिसाल लें। चारों जुआडियों में से एक ने कोट पहन रखा है जिसके चार जेब हैं। यदि वह रुपया रखे एक जेब में, और खाली जेब में हाथ डाल कर रोने लगे कि मेरा रुपया लुट गया तो यह मूर्खता नहीं तो क्या है? जब तक नोट उसके

पास हैं, रुपया किसी जेब में रहे, इकट्ठे रहे या थोड़ा-थोड़ा सब जेबों में बटा रहे, कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक कोट के चार जेब, एक खेल के चार जुआड़ी, या एक समाज के चार परिवार, सब एक ही बात है। यदि एक ही कोट की एक जेब भरी रहे, मगर दूसरी जेब खाली रहे तो जिस प्रकार हमें चिन्ता नहीं होती उसी प्रकार समाज में किसी के पास धन रहे और किसी के पास न रहे तो धन रहनेवाले को न खुश होने की जरूरत है और न रहनेवाले को दुःख मानने की। हाँ, समाज में भी इतना होना चाहिए कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने एक जेब के खाली होने पर दूसरी जेब में हाथ डाल कर पैसा निकालता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति का हाथ खाली रहे तो वह पास के दूसरे व्यक्ति से बिना किसी हिचक के ले सके या पा सके, अस्तु।

किन्तु इस श्लोक में एक दूसरी ही बात कही गयी है। ईश्वर स्वयं जुवाडी है। संसार चौपड़ है। हम सब गोट हैं। गोटों का अधिकार ही क्या है? जहाँ से हटाये हटते हैं और जहाँ बिठाये बैठते हैं। अन्त में खेल खतम पैसा हज़म। मदारी बोरिया बगल में दाब चल देता है। तो क्या संसार को झूठा खेल जान कर मनुष्य को कुछ करना-धरना नहीं चाहिए? ऐसी बात नहीं है। कुछ नहीं तो खेल तो है ही। खेल में भी तो सब बातें विधि से करनी पड़ती हैं। तब ही वह खेल कहलाता है। यदि संसार को निरा तमाशा ही समझें तो भी उस तमाशे को सफल बनाने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपना-अपना कर्तव्य-कर्म करना ही चाहिए। ठीक उसी प्रकार जैसे छोटे-छोटे बच्चे गुड्डा-गुड्डी के खेल में तल्लीन रहते हैं बडों को भी भगवान का गुड्डा-गुड्डी बन कर जीवन बिताना चाहिए।

श्लोक ४३

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्
व्यापारैर्बहु कार्य-भार-गुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते
दृष्टवा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।

पदच्छेद

गतागतैरहरहः = गत + आगतैः + अहः + अहः
कालोऽपि = कालः + अपि
व्यापारैर्बहु = व्यापारैः + बहु
त्रासश्च = त्रासः + च
नोत्पद्यते = न + उत्पद्यते
मदिरामुन्मत्त = मदिराम् + उन्मत्त

पदान्वय

आदित्यस्य गत–आगतैः अहः अहः जीवितम् संक्षीयते
बहुकार्य–भार गुरुमिः व्यापारैः कालः अपि न ज्ञायते
जन्म जरा विपत्ति मरणम् दृष्टवा त्रासः च न उत्पद्यते
मोह मयीम् प्रमाद मदिराम् पीत्वा जगत् उन्मत्त भूतम् ।

शब्दार्थ

आदित्यस्य	= सूर्य के	जरा	= बुढ़ापे
गत–आगतैः	= आने जाने से	विपत्ति	= मुसीबत (और)
अहः अहः	= दिन पर दिन	मरणम्	= मौत को
जीवितम्	= आयु	दृष्ट्वा	= देखकर
संक्षीयते	= घटती जाती है,	त्रासः च	= (दिल में) डर भी
बहु	= बहुत से	न उत्पद्यते	= नहीं पैदा होता,
कार्यभार	= कामों के भार से	जगत्	= दुनिया
गुरुयिः	= (और) बडे	मोहमयीम्	= भ्रम से भरी
व्यापारैः	= बन्धों से	प्रमादमदिराम्	= भूल रूपी शराब
कालाः अपि	= समय भी	पीत्वा	= पीकर
न ज्ञायते	= नहीं जान पड़ता,	उन्मत्तभूतम्	= बद-हवास हो गयी है ।
जन्म	= पैदा होने		

भावार्थ

एक एक दिन के साथ उम्र घटती जा रही है । दुनिया भर के धंधों में फंसे रहने के कारण यह भी पता नहीं रहता कि कितनी

उम्र कट गयी। जन्म से लेकर मरने तक आये दिन की आफतों को और अंत में मृत्यु को अपनी आखों देखते हुए भी भय नहीं खाते कि हमारी भी यही गति होने वाली है। इसका कारण यही है कि लोग मोह में पडे हैं। उनकी बुद्धि मारी गयी है। इसलिए वे अपनी दुर्गति को आप देख नहीं पाते।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में रात दिन को दो पासे कहा था। इस श्लोक में बताया है कि इन पासों को लुड़काने से बाजी पड़ती है। एक बार के पासे में यानी रात दिन के एक चक्कर में एक दिन की आयु कट जाती है। इस प्रकार रोज ही उम्र कटती रहती है। उस बाजी का एक परिणाम यह हुआ। इस बीच में नित नयी विपत्तियों का सामना रहता है। यह दूसरा परिणाम है। किन्तु लोग समझते हैं कि मौज में दिन कट रहे हैं। इसी भ्रम को दूर करने के लिए आगे बुढ़ापा तथा मृत्यु की बात कही गयी है जो किसी के टाले नहीं टलती। बुढ़ापे और मृत्यु के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है। यहाँ पर मोह मदिरा पर ही विचार करलें।

मोह भूल को कहते हैं। भोलापन कहिए। इसी को नशा कहा गया है। नशा करने से केवल बुद्धि पर ही इसका प्रभाव पड़ता हो, सो बात नहीं है। नशे की हालत में शरीर को चोट पहुंचाने पर उसे कष्ट नहीं होता। शरीर के सुन्न पड़ जाने के कारण ऐसा नहीं होता, बल्कि इसलिए होता है कि उसके ज्ञानतन्तु बेकार हो जाते हैं। शरीर के कष्ट को मस्तिष्क तक पहुंचाने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती। मस्तिष्क के समान शरीर भी निकम्मा हो जाता है। मनुष्य चलना चाहता है परन्तु नशे की हालत में उसके पैर लड़खड़ा जाते हैं। किसी चीज को उठाना या फेंकना चाहता है, पर हाथ काम नहीं देता। इस प्रकार शरीर और बुद्धि दोनों बेकार हो जाते हैं। उसे नशे का सुरूर रहता है। यही अज्ञान या मोह है।

संसार का धंधा ही नशा है। हम लोग गलत और हानिकारक कामों को करते हैं और समझ बैठते हैं कि सुख भोग रहे हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमारे सूक्ष्म ज्ञान तंतु बेकार हो चुके हैं इसलिए हमें वास्तविक स्थिति का बोध नहीं हो पाता। यह हुई बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने की बात। अब शरीर के सुन्न पड़ जाने की बात देखिए। शुरू-शुरूमें प्रायः और बाद में कभी कभी सभी

को भले बुरे का आभास होता है। अंतरात्मा पुकार पुकार कर कहती है कि हमसे भूल हो रही है। किन्तु बुद्धि के बताते हुए भी हम उसे कार्यान्वित नहीं कर पाते। वास्तव में उसी शराबी के समान शरीर पर हमारा काबू नहीं रह जाता। इस प्रकार अंत में शराब के सुरूर की शरण लेकर हम लोग अपने मोह को ही मीत समझ बैठते हैं।

श्लोक ४४

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा–मुधा–जन्तवो
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः
व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरित्थंविधेनामुना
संसारेण कर्दथिता वयमहो मोहान्न लज्जामहे।

पदच्छेद

सैव = सा + एव
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव = धावन्ति + उद्यमिनः + तथा + एव
तत्तत्क्रियाः = तत् + तत् + क्रियाः
पुनरुक्त = पुनः + उक्त
विषयैरित्थम् = विषयैः + इत्थम्
विधेनामुना = विधेन + अमुना
वयमहो = वयम् + अहो
मोहान्न = मोहात् + न

पदान्वय

रात्रिः पुनः सा एव, दिवसः स एव मत्वा जन्तवः उद्यमिनः तथा एव, निभृता प्राराब्ध ततृतत् क्रियाः पुनः उक्त विषयैः व्यापारैः मुधा धावन्ति इत्थम् विधेन अमुना संसारेण कर्दथिता वयम् मोहात् न लज्जामहे

शब्दार्थ

सा एव	=	वही
रात्रिः	=	रात है
पुनः	=	फिर
स एव	=	वही
दिवसः	=	दिन है
पुनः सा एव	=	फिर वही (रात-दिन) हैं
मत्वा	=	(ऐसा) जानकर (कल और आज में कोई अंतर न करके)
जन्तवः	=	प्राणी
उद्यमिनः	=	प्रयत्न पूर्वक
तथा एव	=	उसी प्रकार
निभृत	=	निश्चित
प्रारब्ध	=	भाग्य से
तत् तत् क्रियाः	=	उन उन कामों के (पीछे)
मुधा	=	व्यर्थ ही
धावन्ति	=	दौड़ा करते हैं,
पुनः	=	बार बार
उक्त	=	कहे हुए
भुक्त	=	भोगी हुई
विषयैः	=	वस्तुओं से
व्यापारैः	=	कामों से
इत्थम् विधेन	=	इस प्रकार
अनुना संसारेण	=	इस संसार से
कदर्थित	=	पीडित होकर
वयम्	=	हम लोग
मोहात्	=	मोह अथवा अज्ञान से
न लज्जामहे	=	लज्जित नहीं होते

भावार्थ

वही रातें और वही दिन फिर फिर आते हैं, फिर फिर जाते हैं। इसे भली भांति जानते हुए भी लोग उन्हीं कामों को बार बार करते जाते हैं और नियत रूप से प्रारब्ध में बदे कामों को अपना पुरुषार्थ समझ बैठते हैं और ठोकरे खाते हैं। इस प्रकार संसार में धक्के पर धक्के खाते हुए भी अफसोस है कि हम लोग अपनी मूर्खता पर लजाते नही हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जो बात कही गयी थी उसी को इस श्लोक में दूसरे रूप में कहा गया है। सूर्य के निकलने छिपने को पिछले श्लोक में रात दिन कहा था। इसी प्रकार विभिन्न धंधो को प्रारब्ध कर्म और जन्म मरण आदि विपत्तियों

को संसार के झपेटे कहा है। अंत में जिस मोह के कारण लोग ऐसा करते हैं उसे मूर्खता कहा है। इस मूर्खता को सिद्ध करने के लिए मनुष्य के कामों की मिसाल दी गयी है। काम दो तरह के हैं। एक वह काम जो रोजगार धंधे के रूप में किये जाते है, दूसरे वह काम जिन्हें लोग अपने अपने संस्कार के अनुसार किसी प्रकार की लत में पड़ जाते हैं। खेती, व्यापार, नौकरी, पहली श्रेणी के हैं और दूसरी श्रेणी में आते है चोरी, व्यभिचार आदि। इन सब को श्लोक में प्रारब्ध कर्म कहा गया है, जो पहले से ही रहस्य मय ढंग से प्रत्येक प्राणी के साथ लग जाते हैं। इन दोनों प्रकार के कामों में भी मनुष्य की जो मनोवृत्ति होती है उसकी ओर विशेष संकेत है। इन कामों में मनुष्य अपनापन या अपना पुरुषार्थ समझता है। इस प्रकार शारीरिक धर्म या प्रारब्ध कर्म से अपनापन जोड़ने को मूर्खता कहा गया हैं। इस मूर्खता का मूल कारण मोह है। मोह नशा है और नशे में मूर्खता ही हो सकती है।

यहाँ पर एक सवाल उठता है। जब प्रारब्ध ही हमारे कार्यों का प्रेरक है तब क्या किसी पर मूर्खता का आरोप किया जा सकता है? प्रारब्ध में किसी का बस ही क्या है? इसका समाधान सरल है। शराब पीकर उल्टे सीधे बका करें तो दोष शराब पीने का है। शराब न पियें तो न बुद्धि भ्रष्ट होवे और न शरीर निकम्मा बने। यहाँ पर मोह अथवा अज्ञान ही निशा है। निशा धन-दौलत और सत्ता का भी होता है। और यह निशा ही मोह अथवा अज्ञान है। अज्ञान में न फंसने पर ज्ञान का उदय होगा। ज्ञान-मूलक व्यापार में कुकर्मों की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार प्रारब्ध के निर्माण में प्राणी का अधिकार सिद्ध है। मनमानी कर के भाग्य को कोसना बेजा है। इसी लिए अंत में फटकार सुनायी गयी है।

श्लोक ४५

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत्संसारविच्छित्तये
स्वर्गद्वारकवाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः
नारीपीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेऽपि नालिंगितम्
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम्।

पदच्छेद

पदमीश्वरस्य = पदम् + ईश्वरस्य
विधिवत्संसार = विधिवत् + संसार
पटुर्धर्मोऽपि = पटुः + धर्मः + अपि
नोपार्जितः = न + उपार्जितः
पयोधरोरु = पयोधर + उरु
केवलमेव = केवलम् + एव
स्वप्नेऽपि = स्वप्ने + अपि
नालिंगितम् = न + आलिंगितम्

पदान्वय

संसारविच्छित्तये ईश्वरस्य पदम् विधिवत् न ध्यातम्
स्वर्ग-द्वार-कवाट-पाटन-पटुः धर्मः अपि न उपार्जितः
नारी-पीन-पयोधर-उरु-युगलम् स्वप्ने अपि न आलिंगितम्
वयम् मातुः यौवन-वन-छेदे केवलल् कुठारा एव

शब्दार्थ

संसार विच्छित्तये	= संसार से छुटकारा पाने के लिए	नारी	= स्त्री (के)
ईश्वरस्य	= ईश्वर के	पीन पयोधर	= पुष्ट छातियों (और)
पदम्	= चरणों (का)	उरु युगलम्	= दोनों जांघ
विधिवत्	= शास्त्र विधि के अनुसार	स्वप्ने अपि	= स्वप्न में भी
न ध्यातम्	= ध्यान नहीं किया गया	न आलिंगितम्	= (अपने से) नहीं चिपका लिये गये
स्वर्ग-द्वार-कवाट	= स्वर्ग के द्वार की कपाटों को	वयम्	= हम
पाटन	= खोलने में	केवलम्	= केवल
पटुः	= समर्थ	मातुः	= माता की
धर्मः अपि	= धर्म भी	यौवन वन	= जवानी के बन को
न उपार्जितः	= नहीं किया गया (पुण्य नहीं कमाया)	छेदे	= काट डालने में
		कुठारा एव	= कुल्हाड़ा ही हैं।

भावार्थ

नियम से ईश्वर का भजन नहीं किया कि संसार से छुटकारा पा जाता। कुछ धर्म भी नहीं किया कि स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती। कम से कम स्वस्थ स्त्री को छाती से लगाने का सुख भी नहीं जाना। जन्म क्या लिया, माता का यौवन तथा स्वास्थ्य को बरबाद किया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में मोह की मूर्खता की निन्दा की गयी थी। इस श्लोक में बताया है कि मनुष्य को मोह से बच कर क्या करना चाहिए।

मोक्ष, धर्म, अर्थ और काम इन चार फलों की प्राप्ति मनुष्य जीवन का उद्देश है। मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है। विधिपूर्वक ईश्वर का ध्यान करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इस विधि में दोनों बातें हैं—उसे सुनिश्चित विधि से करना और करते जाना। मनमानी करने या जल्दी मचाने से मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। यह है आत्मा सम्बन्धी कर्तव्य।

सामाजिक कर्तव्य दूसरे नम्बर पर हैं। इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। धर्म को स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा गया है। यहां पर धर्म के विस्तृत अर्थ लेने चाहिए। धर्म-पालन में धन की कमाई भी शामिल है। विद्याध्ययन, माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा, आजीविका कमाना, बन्धु-मित्र और परिजनों के साथ उपकार करना, यह सब धर्म के अन्दर आते हैं। किसी निरापद उपाय से धन कमाना, सत्ता प्राप्त करना और उसके द्वारा परोपकार में लगे रहना अर्थ का प्रयोजन है। इस प्रकार धनोपार्जन करके धर्म का पालन करने से मनुष्य स्वार्ग का अधिकारी होता है।

तीसरी श्रेणी में शारीरिक सुख की बात कही गयी है। सुख क्या है? जितनी देर के लिए दुःख का लेशमात्र भी अनुभव न हो और शरीर को अकथनीय आनन्द का अनुभव हो, वही सुख है। साधारणतया अच्छे खाने पहिनने में सुख जान पड़ता है। किन्तु सुख का सम्बन्ध शरीर की अपेक्षा मन से अधिक है। दुनिया की आखों में खाते-पीते हुए भी दिल के किसी कोने में वेदना हो सकती है। किन्तु एक सुख है स्त्री सम्भोग में। चाहे क्षण भर के लिए ही क्यों न हो, आत्यंतिक सुख का अनुभव होता ही है, मानो उस क्षण भर के लिए

संसार में दुःख का नाम ही न हो। कवि उस क्षणिक सुख से भी वंचित है, स्वप्न में भी उसका अनुभव नहीं किया।

यह स्वप्न क्या चीज है और उसका मूल्य क्या है ? जिन बातों का हमने अनुभव किया हो या जिनकी भावना हमारे मन में उठती हो, वही बातें स्वप्न में दिखायी देती हैं। जो वस्तु हमारी कल्पना के बाहर हो, उसे हम स्वप्न में नहीं देख सकते। स्वप्न में भी स्त्री का सुख नहीं देखा, इसका मतलब यही है कि जीवन इतना कष्टमय रहा कि इस प्रकार के सुख की कल्पना के लिए उसके मस्तिष्क में स्थान ही नहीं था। याद रहे कि यहाँ पर सन्तों के तपोमय जीवन की बात नहीं कही जा रही है। अब रहा स्वप्न के बातों का मूल्य। हमने स्वप्न में देखा कि हमारा गला कट गया या हीरे जवाहरात का मूल्यवान हार गले में पड़ा है। किन्तु जागने पर किसी का कोई निशान नहीं पाया जाता। गले का कट जाना या गले में हार पड़े रहना, दोनों झूठ निकलते हैं। हमें यह झूठा आलिंगन भी प्राप्त नही है।

फिर भी स्वप्न के विचारों का कुछ मूल्य जरूर है। यदि कोई साधु पुरुष स्वप्न में भी चोरी, व्यभिचार की बातें देखे तो समझना चाहिए कि उसके अन्दर उन पापों के कीटाणु वर्तमान हैं, अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर वह बुरे कार्य में परिणत भी हो सकते हैं। इसके विपरीत स्वप्न के विचार अच्छी कसौटी भी साबित हो सकती हैं। भयंकर स्वप्न देखकर जो मनुष्य स्वप्नावस्था में भी न घबड़ाए तो वह सच्चा वीर है। स्वप्न में हिंसक जन्तुओं को भी मारने की इच्छा न करे तो वह सच्चा अहिंसक है। यदि कोई सन्यासी स्वप्नावस्था में भी कभी किसी स्त्री के सम्पर्क का अनुभव न करे तो समझना चाहिए कि उसने कामदेव को वश में कर लिया है। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपने किसी आदर्श में किस हद तक सिद्धि प्राप्त की है, इसका अनुमान प्रत्येक मनुष्य अपने स्वप्न के विचारों से कर ले सकता है।

इस श्लोक में मोक्ष, स्वर्ग, पत्नी सुख, जीवन के भिन्न-भिन्न लक्ष्य मान लिये गये हैं। इनमें हर पहला लक्ष्य दूसरे से श्रेष्ठ है। आवागमन से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। जिन इच्छाओं को लेकर मनुष्य शरीर त्यागता है उन्हीं विचारों की पूर्ति के लिए फिर जन्म लेता है। इस प्रकार इच्छाओं से मुक्त हो जाना ही मुक्ति का साधन हुआ। तब तो मरने के बाद ही मुक्ति मिले, यह जरूरी नहीं है। इसी जीवन में इच्छा-रहित हो जाने पर जीवन्मुक्त हो सकते

हैं। इसको सिद्ध करने का साधन बताया है ईश्वर का विधिवत् ध्यान। निष्काम भावना से ईश्वर के नाम पर कर्तव्य कर्म को करते जाना ही ईश्वर की सच्ची आराधना है। यह यदि एक मात्र साधन न हो तो कम से कम एक निश्चित साधन है ही।

अब दूसरे नम्बर में स्वर्ग की बात लें। जिस प्रकार निष्काम कर्म से इसी जीवन में मुक्ति की सिद्धि हो सकती है, उसी प्रकार इसी शरीर से स्वर्गीय सुख भी भोगे जा सकते हैं। सकाम कर्मों का फल स्वर्ग है। पर पीड़न के बिना, बल्कि परोपकार के साथ भोगे जानेवाले सुखों को हम स्वर्गीय सुख कह सकते है।

अन्त में एक पत्नी-व्रत का पालन करते हुए सुयोग्य सन्तान का उत्पन्न करना भी एक पुरुषार्थ है।

माता अपनी सन्तान के लिए ऊपर बताए गये चारों प्रकार के पुरुषार्थ की कामना करती है। इन आशाओं का फलना ही माता का सुख है। इसके विपरीत यदि उसकी आशाओं पर पानी फिर गया तो जन्म वृथा है। अपना जीवन बिगाड़ा और माता को भी दुखी बनाया। कितने कष्ट सह कर माता हमें जन्म देती है। उसके स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ता है। वह जल्दी कमजोर और बूढ़ी हो जाती है। ऐसे ही जन्म को माता की जवानी पर कुल्हाड़े की मार कहा गया है। ऐसे लोग धरती-माता के लिए भार रूप हैं। उन्हें शादी करके अपने ही समान निकम्मी सन्तान पैदा कर के संसार-रूपी स्वर्ग को नरक कुंड बनाने का कोई हक नहीं है।

श्लोक ४६

नाभ्यस्ता प्रतिवादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता
खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः
कान्ताकोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये
तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत्।

पदच्छेद

नाभ्यास्ता = न + अभ्यस्ता
विनीतोचिता = विनीत + उचिता
खड्गाग्रैः = खड्ग + अग्रेः
दलनैर्नाकम् = दलनैः + नाकम्
पल्लवाधर = पल्लव + अधर
चन्द्रोदये = चन्द्र + उदये
गतमेव = गतम् + एव
निष्फलमहो = निष्फलम् + अहो
शून्यालये = शून्य + आलये

पदान्वय

प्रतिवादिवृंद दमनी विनीत–उचिता विद्या न अभ्यस्ता करि कुम्भ पीठ दलनैः खड्ग–अग्रैः यशः नाकम् न नीतम् चन्द्र–उदये कान्ता कोमल–पल्लव–अधर–रसः न पीतः अहो शून्य–आलये दीपवत् तारुण्यम् निष्फलम् गतम् एव

शब्दार्थ

प्रतिवादिवृन्द = विरोधी समूह के
दमनी = दबाने, हराने योग्य
विनीत उचिता = विनम्र तथा योग्य
विद्या न अभ्यासिता = विद्याओं का अभ्यास नहीं किया,
करि कुम्भ पीठ = हाथी के मस्तक के पटिये को
दलनैः = चीरने में
खड्ग अग्रैः = तलवार की नोक से
यशः = जस
नाकम् = स्वर्ग में
न नीतम् = नहीं पहुंचा,
चन्द्र उदये = चांद निकलने पर चांदनी रात में
कान्ता = अपनी स्त्री के
कोमल पल्लव = मुलायम पत्तियों के समान
अधर रसः = ओठों के रस को
न पीता = नहीं पिया,
शून्य आलये = सूने घर में
दीपवत् = दीपक के समान
तारुण्यम् = जवानी
निष्फलम् = वृथा
गतम् एव = चली गयी
अहो = हाय ! हाय !

भावार्थ

न तो मैं विद्या बल से सभाओं में विरोधियों को हरा पाया, शारीरिक बल तथा पौरुष से मैदान में दुश्मन को जीत कर दुनिया में नाम कर पाया, और न चांदनी रातों में ही प्रीतम के मुलायम ओठों का रस पान कर छक पाया। मेरी जवानी वैसे ही वृथा बीती जैसे सूने घर का दीप।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक ही का यहउल्था है! इस में भी उन्ही चारों फलों की प्राप्ति के ध्येय को दुहराया गया को है। यहाँ साधनकुछ भिन्न हैं, पर साध्य वही है—विद्या, धन तथा यौवन का उपयोग। विद्वान अपनी विद्या से अमरत्व को प्राप्त होता है। भले ही वह धन कमाकर सुख न भोग सके, उस की रचना अमर होती है। वह अपने ज्ञान चक्षु से मुक्ति के मार्ग को विलक्षण रूप से देख लेता है। इसीलिए समाज में धनी या सत्ताधारी की अपेक्षा विद्वान का मान बड़ा है। किन्तु इस श्लोक में विद्वान को भी वीर पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दूसरे विद्वानों को अपनी विद्वता से पराजित करना यह राजसी वृत्ति है। किन्तु शुद्ध सात्विक वृत्ति ही मुक्ति का साधन है। इसलिए खंडन–मंडन की विद्या को मोक्ष का अधिकारी होने की बात नहीं कही गयी है। वह संसार में अमर हैं, शायद ऐसे विद्वान मोक्ष को प्राप्त न हों। यही ठीक भी जंचता है। क्यों कि इसी श्लोक में आगे पुरुष–पुन्गव को सीधे स्वर्ग का अधिकारी न कहकर उसके यश को ही स्वर्ग तक पहुँचा दिया गया है। इसी प्रकार शस्त्रास्त्र तथा अत्याचारों से जो लोग सत्ता को प्राप्त हो जाते हैं, निश्चय ही वह भी स्वर्ग के अधिकारी नहीं बन सकते। हाँ संसार में उनका नाम इतना होता है कि स्वर्ग में उनकी गूंज पहुंच जाती है, या कम से कम समाज ऐसा समझने लगता है। अंत में, ऐसा लगता है कि इस श्लोक में स्त्री सम्भोग को भी इसी ढंग में व्यक्त किया गया है। कदाचित संकोचवश बल प्रयोग की चर्चा नहीं की है। पिछले श्लोक में माता के लिए वेदना प्रगट की है तो इसमें अपनी जवानी का रोना रोया है। बहरहाल बात वही है। तीनों सुख भी कुछ घटिया रूप के हैं क्यों कि तीनों में अपने पराक्रम का विचार प्रबल रहता है। शायद स्त्री–प्रसंग में भी परस्पर सुख का ध्यान गौण है। यह 'स्व' की भावना तीनों प्रकार के व्यक्तियों

में कम या अधिक समान रूप से पायी जाती हैं। विद्वान की विद्वत्ता, सत्ताधारी का शासन तथा कामुक की विषयलोलुपता, तीनों में प्रेम की अपेक्षा साधारणतया स्वार्थ तथा हिंसा वृत्ति ही प्रेरक होती है।

श्लोक ४७

विद्या नाधिगता कलंकरहिता वित्तं च नोपार्जितम्
शुश्रूषाऽपि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता
आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि नालिंगिताः
कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेर्यते।

पदच्छेद

नाधिगता = न + अधिगता
नोपार्जितम् = न + उपार्जितम्
शश्रूषाऽपि = शुश्रूषा + अपि
पित्रोर्न = पित्रोः + न
स्वप्नेऽपि = स्वप्ने + अपि
नालिंगिताः = न + अलिंगिताः
कालोयम् = कालः + अयम्
काकैरिव = काकैः + इव

पदान्वय

कलंक रहिता विद्या न अधिगता, वित्तम् च न उपार्जितम्
समाहितेन मनसा पित्रोः शुश्रूषा अपि न सम्पादिता
आलोलायत लोचनाः युवतयः स्वप्ने अपि न आलिंगिताः
अयम् कालः काकैः इव परपिण्ड लोलुपतया प्रेरितः

शब्दार्थ

कलंक रहिता विद्या	=	निर्दोष विद्या का
न अधिगता	=	अभ्यास, नहीं किया,
वित्तंच	=	धन भी
न उपार्जितम्	=	नहीं कमाया,
समाहितेन मनसा	=	शुद्ध चित्त से और
पित्रोः	=	माता-पिता गुरुजनों की
शुश्रूषा अपि	=	सेवा भी
न सम्पादिता	=	नहीं की,
आलोल	=	चंचल
आयत	=	बडी बडी
लोचनाः	=	आखोंवाली
युवतयः	=	युवतियों को
स्वप्ने अपि	=	स्वप्न में भी
न अलिंगिता	=	छाती से नहीं लगाया,
अयम् कालः	=	यह समय (सारा जीवन)
काकैः इव	=	कौए के समान
पर पिंड लोलुपतया	=	पराये अन्न को ललचाते हुए
प्रेरितः	=	बीत गया

भावार्थ

न किसी निर्दोष विद्या का पूर्णतया अध्ययन किया और न निष्पाप धन का संचय किया, न माता-पिता तथा गुरुजनों की दिल से सेवा की और न सुन्दर रमणियों के साथ रमण ही किया, किन्तु हमने सदा पराए कौर पर आशा लगाये तुच्छ कौए का-सा जीवन बिताया।

विशेषार्थ

इस श्लोक और पिछले दोनों श्लोकों का भाव समान है। 'न ध्यातं पदमीश्वरस्य' श्लोक के साथ इन दोनों श्लोकों को मिला कर पढ़ने से कवि का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। तीनों में क्रम से उत्तम, मध्यम और साधारण कोटि के व्यक्तियों के जीवन का उद्देश्य बताया गया है। श्लोक ४५ में उत्तम कोटि की स्वर्गीय आत्मा की कल्पना की गयी है। बाद के दोनों श्लोकों में सांसारिक व्यक्तियों का चित्रण है। इसके दो भेद किये गये हैं। श्रेष्ठ कोटि के लिए कहा गया है कि यदि वह विद्याभ्यास करें तो उसे भी सीमा तक पहुँचा दें कि मुकाबले में कोई दूसरा व्यक्ति टिक न सके। बल पौरुष की साधना करें तो ऐसी कि सारी पृथ्वी और आकाश में उसका यश समा जाए। अन्त में इस

श्लोक के अन्दर साधारण श्रेणी के लोगों के प्रति कहा गया है कि वह ऐसी विद्या सीखें जो कलंक रहित हो ।

विद्या जैसी पवित्र वस्तु में कलंक कैसा ? आजकल ठग-विद्या का बोल-बाला है । पाश्चात्य विचार-धारा ने विद्या के समान पवित्र वस्तु को भी कलंकित कर रखा है । विज्ञान जो ईश्वरीय रहस्यों के समझने का साधन है, उसे सृष्टि के संहार का साधन बना लिया गया है । साधारण वकील, डाक्टर आदि भी अपनी विद्या को दूसरों को ठगने में लगाते हैं । आजकल लोग चालाकी को ही विद्या समझ बैठे हैं । जो विद्या इस प्रकार के दोषों से रहित हो वही निष्कलंक विद्या है । ऐसी निर्दोष विद्या के साथ विनय शीलता का होना स्वभाविक ही है । यही बात बल, पौरुष की है । संसार का आधिपत्य पाकर घमंड में चूर न हों, बल्कि साधुता तथा सदाचार ही को अपना ध्येय बनावें । श्लोक में आगे धनोपार्जन के साथ कोई विशेषण तो नहीं है, किंतु 'वित्तेच' अर्थात् 'धन भी' कहकर इसी बात की ओर संकेत किया गया है कि धन भी निष्कलंक यानी पाप–रहित होना चाहिए। धन कमाने के लिए ऐसा व्यवसाय या धन्धा अपनाना चाहिए जिसमें समाज का उनकार हो । उसमें सहायता करने वाले नौकर तथा मजदूरों को उनका पूरा हक दिया करें । फिर अपने लिए आवश्यक धन लेकर, बाकी को जन–सेवा में लगा दें । सेवा शुश्रूषा में, चाहे नौकरी के रूप में हो अथवा माता–पिता गुरुजनों की सेवा हो, उसे दिल से करना चाहिए ।

इन तीनों श्लोकों में एक बात का संकेत और मिलता है । तरुणावस्था में जबतक कुछ सीखने का अवसर रहे, कोई विद्या या कला कौशल न सीखे और जवानी में कमाने खर्च करने के लायक न रहे, ऐसे लोगों का वैवाहिक जीवन भी सुखी नहीं हो सकता । इस प्रकार पिछले तीनों श्लोकों में ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के धर्म गिनाये गये हैं। यहाँ पर ''धर्म''गुण कर्म के अनुसार है, जन्म से नहीं । परन्तु सभी धर्मों के साथ स्त्री सम्भोग की चर्चा है । इसकी किसी अवस्था में मनाही नहीं है । स्वर्ग की प्राप्ति ही नहीं एकदम मोक्ष पाने में भी स्त्री बाधक नहीं है । इन श्लोकों में इसकी साफ़ झलक है । निश्चय ही स्त्री–सम्पर्क में एक पत्नीव्रत तथा ऋतु-काल की मर्यादा का पालन अभीष्ट है । अंत में पराये अन्न के लिए 'कौर' का जीवन बिताने की बात कहकर ऐसे लोगों की निंदा की गयी है, जो घर द्वार त्यागकर झूठ ही साधु का स्वांग रचकर संसार का भार बढ़ाते हैं । इन्हें निम्न कोटि के मानव माना गया है ।

श्लोक ४८

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ।

पदच्छेद

जाताश्चिर = जाताः + चिर
तेऽपि = ते + अपि
इदानीमेते = इदानीम् + एते
दिवसमासन्न = दिवसम् + आसन्न
गतास्तुल्यावस्थां = गताः + तुल्य + अवस्थाम्

पदान्वय

वयम् येभ्यः जाताः ते चिरपरिगता एव खलु
यैः समम् संवृद्धाः ते अपि स्मृति–विषयताम् गमिताः
इदानीम् वयम् सिकतिल–नदीतीर–तरुभिः तुल्य-अवस्थाम् गताः
प्रति दिवसम् आसन्न पतनाः एते स्मः

शब्दार्थ

वयम्	= हम
येभ्यः	= जिनसे (जिन माता-पिता से)
जातः	= जन्मे
ते	= वे
चिरपरिगतः एव खलु	= बहुत पहले बीत गये,
यैः समम्	= जिनके साथ
संवृद्धाः	= बढे थे
ते अपि	= वे भी
स्मृति विषयताम्	= याद करने की वस्तु (मात्र)
गमिताः	= होगये,
इदानीम्	= अब इस बुढ़ापे में
वयम्	= हम
सिकतिल	= रेतीले
नदी तीर तरुभिः	= नदी तट के पेडके
तुल्य–अवस्थाम्	= समान दशा को

गताः	=	प्राप्त होकर	आसन्न–पतनाः	=	मरने को तैयार
प्रतिदिवसम्	=	हर दिन	एते स्मः	=	यह बैठे हैं

भावार्थ

अरसा बीत माता पिता जाते रहे। संगी साथी भी चल बसे। हम स्वयं बूढे हो चले। इस बुढ़ापे में हमारी दशा उस पेड़ की–सी है जो किसी नदी के रेतीले तट पर खड़ा हो और किसी भी समय नदी में बह जाने को हो।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में इस बात पर चिंता प्रकट की गयी थी कि जब तक कुछ करने लायक रहे तब तक तो कुछ किया धरा नहीं। युवावस्था में कोई कला कौशल नहीं सीखा और जवानी में कोई पुरुषार्थ नहीं किया। इस श्लोक में बीती बातों पर पश्चात्ताप करते हुए बुढ़ापे में अपने को एकदम लाचार और बे-बस पाता है। अपने अच्छे दिनों में भी उनकी खैर खबर न लें, तो भी माता–पिता अपने संतान को कष्ट भोगते स्वयम् देख नहीं सकते। सो तो रहे नहीं। माता पिता के बाद दूसरा नंबर उन लोगों का है जो साथ खेले–खूदे या साथ साथ पले या बडे। ये लोग दो तरह के होते हैं, एक भाई बहन, दूसरे दोस्त साथी। इन तीनों में से यदि एक भी न रहा तो मानना होगा कि संसार में साधारणतया कोई सहायक नहीं रहा। इनके अलावा एक चौथे प्रकार का भी साथी होता है। शरीर में यदि कस-बल बाकी रहे तो उससे भी बहुत-कुछ आशा बनी रहती है। सो उसका भी सहारा नहीं रहा। बूढ़ा होगया। अकेला रह गया।

बुढ़ापे को नदी किनारे खडे पेड़ की उपमा दी गयी है। नदी की धार और बाढ़ से सदा उसकी जडों से मिट्टी खसकती जाती है। अर्थात् बुढ़ापा मौत की निशानी है। इतना ही नहीं वह पेड़ बालू के तट पर है। उसे अकेले पानी की धार या बालू ही से खतरा नहीं, आंधी–तूफान का एक झोंका भी उसको जड़ से उखाड़ फेंक सकता है। बुढ़ापे में ऐसी बे बसी होती है मनुष्य की।

श्लोक ४९

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धम् गतम्
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरंगचंचलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ।

पदच्छेद

आयुर्वर्ष = आयुः + वर्ष
तदर्धम = तत् + अर्धम्
तस्यार्धस्य = तस्य + अर्धस्य
चार्धमपरम = च + अर्धम् + अपरम्
सेवादिभिर्नीयते = सेवाआदिभिः + नीयते

पदान्वय

नृणाम् आयुः वर्षशतम् परिमितम्, तत्-अर्धम् रात्रौ गतम् तस्य परस्य अर्धस्य अपरम् अर्धम् बालत्व वृद्धत्वयोः गतम् शेषम् व्याधि-वियोग-दुःखसहितम् सेवा-आदिभिः नीयते वारि-तरंग-चञ्चल-तरे जीवे प्राणिनाम् सौख्यम् कुतः

शब्दार्थ

नृणाम	=	मनुष्यों को
आयुः	=	उम्र
वर्षशतम्	=	सौ वर्ष
परिमितम्	=	सीमित है (थोडी है),
तत् अर्धम्	=	उसका आधा
रात्रौ	=	रात में
गतम्	=	बीता,
तस्य	=	उस (के)
परस्य	=	बाकी के
अर्धस्य	=	आधे के
अपरम् अर्धम्	=	और आधा
बालत्व वृद्धत्वयोः	=	बचपन और बुढ़ापे में
गतम्	=	बीता,
शेषम्	=	बाकी
आयुः	=	उम्र
व्याधि	=	रोग

वियोग	=	जुदाई के	चञ्चलतरे	=	अति चंचल
दुःख सहितम्	=	दुखों से भरी हुई	जीवे	=	जीवन में
सेवा आदिभिः	=	चाकरी वगैरह में	प्राणिनाम्	=	मनुष्यों को
नीयते	=	बीतती है,	सौख्यम्	=	सुख
वारि-तरंग	=	पानी की लहरों के से	कुतः	=	कहां है ?

भावार्थ

मनुष्य का जीवन १०० वर्ष तक सीमित है। उसका आधा ५० वर्ष तो रातों में सोते वृथा कट जाते हैं। बाकी ५० वर्ष में से आधे २५ वर्ष बचपन और बुढ़ापे में बीत जाते हैं। रहे २५ वर्ष यह थोड़ा-सा समय भी रोग, वियोग, नौकरी, चाकरी आदि नाना प्रकार के कष्टों में बीतते हैं। इन सब के बाद भी जीवन का कोई ठिकाना नहीं। पूरे सौ वर्ष जीने का कोई भरोसा नहीं। बहते पानी की लहर के समान एकदम अस्थिर है। ऐसी दशा में जीवन का सुखी होना एक अनहोनी-सी बात है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में यह कहा था कि जीवन के किसी भाग में कुछ कर नहीं पाया। इस श्लोक में हिसाब लगा कर सिद्ध किया है कि इस छोटे से जीवन में वास्तव में कुछ किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य यदि पूरी आयु तक जीवे तो भी वह अधिक से अधिक १०० वर्ष ही जी सकता है। संसार का जीवन लाखों, करोडों वर्षों का है और इसमें प्रत्येक क्षण अरबों खरबों प्राणी अपनी जीवन लीला समाप्त कर मर जाते हैं। इस हिसाब से एक मनुष्य के सौ वर्ष किसी गिनती-शुमार में भी नहीं हो सकते। इन सौ वर्षों का भी मनुष्य पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सकता। पचास वर्ष रात के सोने में कट जाते हैं। बचपन और बुढ़ापे में साधारणतया मनुष्य से कोई पुरुषार्थ नहीं हो सकता। श्लोक के हिसाब से साढे बारह वर्ष लड़कपन के और इतने ही साल बुढ़ापे के निकाल देने पर रह जाते हैं केवल पच्चीस वर्ष। तीन चौथाई आयु तो इधर-उधर ही चली गयी। बची एक चौथाई। सौ साल में से केवल पच्चीस साल काम के लिए मिले। इन थोडे से दिनों में इतनी चिन्ताएँ घेरी रहती हैं कि मनुष्य को

वास्तविक काम के लिए छुट्टी ही नहीं मिलती। इस प्रकार सौ वर्ष की लम्बी कहलाने वाली आयु भी नहीं के समान हुई। जब पूरी आयु पानेवाले भाग्यवानों का यह हिसाब है तो आधी-तिहाई उम्र पानेवालों की क्या गति होगी। उस आधी-तिहाई की भी कोई गारंटी है नहीं। न जाने कौन घडी श्वास बन्द हो जाए। ऐसी अवस्था में कोई किसी काम को क्या उठावेगा और क्या पूरा करेगा ?

सौ वर्ष के इन हिसाब पर ज़रा और विचार कर लेना जरूरी है। मान लिया जाए कि मनुष्य का आयु-प्रमाण सौ वर्ष पूरा है। फिर भी उन सौ वर्षो का श्लोक में दिया गया बंटवारा ज्यों का त्यों सही मानने योग्य नहीं है। श्लोक के अनुसार बचपन के साढे बारह वर्ष के बाद ही मनुष्य करने-धरने लायक नहीं हो पाता और न १०० में से साढे बारह वर्ष निकाल देने पर साढे अठासी वर्ष के बुढ़ापे तक वह हट्टा-कट्टा बना रहता है। किन्तु इसमें रात के पचास वर्ष मिला लेने पर हिसाब ठीक निकल आवेगा। तब पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पचास तक गृहस्थ, पचहत्तर वर्ष तक वानप्रस्थ और उसके बाद सन्यास आश्रम का आरम्भ होगा। पहले पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का यथा विधि पालन करने पर ही बाकी आश्रमों में मनुष्य अपना कर्तव्य पालन के योग्य रहता है।

इसी प्रकार काम-काज से छुट्टी पानेवाले अन्तिम सन्यास आश्रम का भी उतना ही महत्व है। लोगों से अपने-अपने आश्रमों का यथा विधि पालन करवाना भी सन्यासियों का काम है। यह ठीक है, पर विचारने से सब आश्रमों में गृहस्थ-धर्म का ही अधिक महत्व मालूम होता है। अन्य तीनों आश्रमों को नियमित रूप से चलाना इसी गृहस्थाश्रम पर निर्भर है। गृहस्थी के कामी होने पर ब्रह्मचर्य आश्रम पर आघात पहुँचता है। उस के लोभी होने से वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं हो पाता और उन ही गृहस्थों के लालच और धन-लिप्सा से सन्यासी अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता। सर्व त्यागी सन्यासी को जनता की सेवा के लिए धन कमाना पड़ता है या सेवा के काम को छोड़ देना पड़ता है। इसलिए गृहस्थी को एक प्रकार से ब्रह्मचारी और सन्यासी की भावनाओं को साथ ले कर ही गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करना चाहिए और उसे निभाना चाहिए। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दूसरे आश्रमवालों की कोई जिम्मेवारी नहीं है। उन की जिम्मेदारी है और बहुत ज्यादा है। किंतु गृहस्थ की भी उतनी ज़्यादा है।

ऊपर के सौ वर्षों का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मनुष्य सौ वर्ष तक ही जीवित रह सकता है। पुराने लोग इनसे अधिक जीते थे। आजकल भी सौ साल से ऊपर के लोग मिलते हैं। वास्तव में यह ऊपर दिये गये सौ वर्ष किसी ज़माने की मनुष्य की औसत आयु थी और लोग सौ वर्ष तक जीवन का पूरा आनंद उठाने योग्य बने रहते थे। अन्धे होते न थे, बहरे बनते न थे, हाथ में लकड़ी नहीं थामते थे, और इतने स्वस्थ जीवन के साथ पच्चीस वर्ष या रात-दिन ले कर पचास वर्ष तक दुनिया का काम धंधा करते थे। तब भी इनमें से विरले ही वास्तविक पुरुषार्थ कर पाते थे। आजकल तो हिन्दुस्तान की औसत आयु तेईस या सताईस वर्ष है। यह तो औसत है। लाखों प्रतिवर्ष इससे पहले ही काल के कौर हो जाते हैं। हालाकि इसी भारत में पहले बाप के सामने बेटा नहीं मरता था। लोगों की औसत आयु के गिरने से समाज की सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। हमारे बच्चे बचपन ही में जवान हो कर बाप बन जाते हैं और जीवन में पदार्पण करने की अवस्था को पहुंचते-पहुँचते मसान-घाट का रास्ता नापते हैं। पूरे १०० वर्ष की औसत पर भी श्लोक में "कुतः सुखम्?" कहा है। विचारणीय विषय यह है कि वर्तमान बाईस वर्ष की औसत पर हमें कितना सिर धुन कर रोना चाहिए। औसत आयु के ह्रास हो जाने से समाज का जो ह्रास क्रमागत रूप से बढ़ता है उसके विचार मात्र से माथा ठनकने लगता है। चालीस करोड़ के देश में औसत आयु के १०० से २३ तक गिर जाने से एक-एक पल में रुपये-पैसों में करोड़ों, अरबों, खरबों की जो हानि हो जाती है उसका हिसाब लगाया ही नहीं जा सकता। स्वस्थ भोजन और नियमित जीवन से देश की औसत आयु का बढ़ाना प्रत्येक सभ्य कहलानेवाले समाज तथा सरकार का प्रथम कर्तव्य है।

श्लोक ५०

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः
जरा जीर्णैरंगैर्नट इव वलीमण्डिततनुः
नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्।

पदच्छेद

क्षणमपि = क्षणम् + अपि
वित्तैर्हीनः = वित्तैः + हीनः
जीर्णैरंगैर्नट = जीर्णैः + अंगैः + नट
संसारान्ते = संसार + अन्ते

पदान्वय

नट इव क्षणम् बालः भूत्वा क्षणम् अपि काम-रसिकः युवा भूत्वा क्षणम् वित्तैः हीनः भूत्वा, क्षणम् अपि सम्पूर्णविभवः भूत्वा, जरा–जीर्णैः अंगैः वली–मण्डित–तनुः संसार–अंते यमधानी–यवनिकाम् विशति

शब्दार्थ

नट इव	= (रंगमंच के) नर्तक की तरह	सम्पूर्ण विभवः	= खूब धन–दौलत से माला माल
नरः	= मनुष्य	भूत्वा	= हो कर
क्षणम्	= थोडी देर	जरा	= बुढ़ापे में
बालः भूत्वा	= बच्चा बनकर	जीर्णैः अंगैः	= ढीले–ढाले-अंगों के
क्षणम् अपि	= थोडी देर ही	वली मण्डित	= झुर्रियों से भरे
काम–रसिकः	= प्रेमी रसिक	तनुः	= शरीर (के साथ)
भूत्वा	= बनकर	संसार अंते	= जीवन के अंत में
क्षणम्	= थोडी देर	यमधानी	= यमपुरी के
वित्तैःहीनः	= धन से खाली (दरिद्र)	यवनिकाम्	= परदे में
भूत्वा	= बन कर	विशति	= प्रवेश करता है, छिप जाता है
क्षणम् अपि	= थोडी देर ही		

भावार्थ

संसार के रंगमंच पर मनुष्य मानो एक पात्र है जो कभी बच्चा बनकर लीला दिखाता है तो कभी जवान बनकर रंगरलियाँ

करता है। कभी दरिद्र बनकर भीख मांगता है तो कभी धनी बनकर ऐश करता है। फिर बूढ़ा बनकर लकडी टेकने लगता है। और अंत में तमाशा खत्म करके परदे के पीछे छिप जाता है। फिर दिखाई नहीं पड़ता। मर जाता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जीवन को भिन्न भिन्न भागों में बांटकर बताया गया था कि मनुष्य जो कुछ करता है वह कोरा दिखावा है। श्लोक नं. ४२ में कहा हैं कि संसार चौसर और मनुष्य उसके गोट हैं। यहाँ पर संसार को रंगमंच और मनुष्यों को उसके पात्र कहा है। नाटक में एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न भेस बदलता है। कभी वह नौकर बनता है तो कभी राजा। कभी पुरुष तो कभी स्त्री बनता है और ठीक उन ही के समान व्यवहार करता हो तथा अपना पार्ट ठीक ठीक अदा करके वाह-वाही लेता है। देखने वाले भी प्रसन्न हो जाते हैं। वह भी खुश होता है। और यदि काम ठीक न रहे तो सारा मज़ा फिर किरा हो जाता है।

मनुष्य को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसे भी अपने जीवन में बच्चा, जवान, बूढ़ा और दुखी, सुखी होना ही है। उसके लिए वह चिंतित न होवे, बल्कि उन उन अवस्थाओं में अपने कर्तव्य को प्रसन्नता के साथ पालन करे। रंगमंच पर सुखी राजा का पार्ट जिस खूबी से करना हो दुखी दरिद्र का पार्ट भी उसी सुन्दरता से करना होता है। ठीक उसी प्रकार हम मनुष्यों को जिस किसी अच्छी या बुरी दशा में रहें अपनी उस दशा से उतने ही प्रसन्न रहें जैसे नट नाटक में। सुखांत नाटकों की तरह दुखान्त नाटक भी केवल मनोरंजन के लिए हैं। यह समझ कर मनुष्य अपने अपने कर्म को रोने की अपेक्षा खुशी खुशी अपने अपने कर्तव्य को पूरा करता जाये तो दुख और दुख दोनों दशाओं में समान रूप से सुख ही मिलेगा।

पंचम दशक का सारांश

श्लोक नं–४१ समय इतना बली होता है कि महान साम्रराज्य का वैभव भी मट्टी में मिल जाता है।

–४२ संसार एक जुआ है, अंत में सभी का विनाश है।

–४३ मोह अथवा अज्ञान नशे के समान है।

–४४ मनुष्य को मोह के वश में हो जाना लज्जा की बात है।

–४५ जीवन में कोई न कोई पुरुषार्थ करना ही चाहिए।

–४६ युवावस्था ही किसी कला कौशल में प्रवीण होने की चेष्ठा करनी चाहिए।

–४७ नहीं तो जीवन भर दूसरों का मुंह ताकना पडेगा।

–४८ बुढ़ापे में हाथ मलना पडेगा।

–४९ सौ वर्ष की सीमित आयु को भी हम लोग बेकार गंवाते हैं।

–५० प्रत्येक अवस्था में अपने अपने कर्तव्य पर डटे हुए संसार का नाटक सांगो पांग सामाप्त करना चाहिए।

इस प्रकार इस दशक में महा बली काल की महिमा गाने के बाद अगले श्लोकों में भाग्यवान राजा महाराजाओं की तुच्छता सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

श्लोक ५१

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्तिनः
इत्थं मानधनातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरम्
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।

पदच्छेद

वयमप्युपासित = वयम् + अपि + उपासित
प्रज्ञाभिमानोन्नताः = प्रज्ञा + अभिमान + उन्नताः
ख्यातस्त्वं = ख्यातः + त्वम्
विभवैर्यशांसि = विभवैः + यशांसि
धनातिदूरमुभयोर-) धन + अतिदूरम् + उभयोः +
प्यावयोरन्तरम् } अपि + आवयोः + अंतरम्
पराङ्मुखोऽसि = पराङ्मुखः + असि
यद्यस्मासु = यदि + अस्मासु
वयमप्येकान्ततः = वयम् + अपि + एकान्ततः

पदान्वय

त्वम् राजा वयम् अपि उपासित गुरु प्रज्ञा–अभिमान उन्नताः
त्वम् विभवैः ख्यातः नः यशांसि कवयः दिक्षु प्रतन्वन्ति
इत्थं आवयोः उभयोः अपि अंतरं अतिदूरम्
यदि त्वम् अस्मासु पराङ्मुखः असि वयम् अपि एकान्ततः निस्पृहाःस्मः

शब्दार्थ

त्वम् राजा	= तुम राजा हो	प्रतन्वन्ति	= फैलाते हैं,
वयम् अपि	= (तो) हम भी	इत्थम्	= इस प्रकार
उपासित गुरु	= गुरु की सेवा से	आवयोः उभयोः	= हम दोनों में
प्रज्ञा	= विलक्षण ज्ञान के	मान–धन	= मान और धन का
अभिमान उन्नताः	= स्वाभिमान से ऊँचे हैं,	अंतरम्	= भेद
		अति दूरम	= बहुत भारी है,
त्वम्	= तुम	यदि	= अगर
विभवैः	= धन दौलत में	त्वम्	= तुम
ख्यातः	= प्रसिद्ध हो (तो)	अस्मासु	= हमारी ओर से
नः	= हमारे	पराङ्मुखः	= मुंह फेरे हो
यशांसि	= यश और कीर्ति को	वयम् अपि	= हम भी
कवयः	= कवि जन	एकान्ततः	= एकदम्
दिक्षु	= चारों दिशाओं में	निस्पृहाः	= उदासीन हैं।

भावार्थ

तू राजा है तो मैं भी ज्ञानी हूँ। तेरे पास धन है तो मेरे पास विद्या है। तेरा राज्य भर में मान है तो संसार भर में मेरा सम्मान है। इस प्रकार तेरे और मेरे बीच धन और-मान का भारी अंतर है, और तेरे धन से मेरे मान की मर्यादा कहीं अधिक है। यदि तू मेरी ओर ध्यान नहीं देता है तो मुझे भी तेरी परवाह नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में समय की महिमा बताते हुए कहा गया था कि राजा टुकडों के लिए मोहताज हो सकता है और दरिद्र धनी बन सकता है। अंत में यह कहकर दशक को समाप्त किया गया था कि संसार को नाटक का रंगमंच समझकर सबको समान दृष्टि से देखते हुए हर एक को अपना अपना पार्ट पूरा करना चाहिए। इस दशक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि धनी और दरिद्र में कोई अंतर नहीं है। बल्कि सांसारिक दृष्टि से जिसे तुच्छ समझा जाता है, वह वास्तव में उच्च है। यहाँ पर एक अत्यन्त वैभवशाली राजा और एक अत्यन्त कष्टमय जीवन बिताने वाले सन्यासी की मिसाल लेकर वाद-विवाद के रूप में सन्यास की श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है। राजा के राज्य और उसकी धन सम्पत्ति की अपेक्षा सन्यासी का ज्ञान तथा विद्वत्ता अधिक मूल्यवान है।

संसार में राजा और विद्वान दोनों का सम्मान होता है। फिर भी दोनों के सम्मान में भारी अंतर है। राजा का मान डरके कारण होता है। राजा से केवल उसी की प्रजा डरती है, इसलिए प्रजा अपने राजा के प्रति दिखावटी मान दर्शाती है। उसके राज्य के बाहर राजा को कोई पूछता तक नहीं। अन्य राज्य में यदि सम्मान मिले तो उसके पीछे डर ही छिपा रहता है। हाँ, कुछ राजा महाराजाओं का बाहर भी सम्मान हुआ तो इसका कारण उसका राजत्व नहीं बल्कि उस राजा के व्यक्तिगत गुणों के कारण है। उसी के समान अच्छे गुण सैकडों साधारण व्यक्तियों में भी होते हैं, किंतु उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं होता। इसका एक मात्र कारण है उसकी साधन हीनता। राजा या धनी के सा न सम्पन्न होने से प्रचार खूब होता है और गरीब उससे वंचित रहता है। किंतु विद्वान के साथ यह बात नहीं है। साधारणतया विद्वान के साधन-

विहीन होने पर भी उसकी कीर्ति दिगंतों में फैल जाती है। विद्वान की मान-मर्यादा के पीछे राज-दंड का भय नहीं होता और उसकी यशोमहिमा को राज्यों की सरहदें रोक नहीं सकतीं। समर्थ समय या काल भी उसके मानने सिर नमाता है। राजा का मान उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाता है। परन्तु विद्वान का मान यु-युगांतर तक बना रहता है। जिन राजाओं का नाम आज तक बाकी है वह भी इन ही विद्वानों की कृतियों के कारण है। राजा विद्वान का मुहताज है, किंतु विद्वान राजा का नहीं। इसीलिए श्लोक में विद्वान की लापरवाही का बखान किया गया है।

यही बात सभी कलाकार, सैनिक, मजदूर और किसानों पर लागू होती है, जिनकी बदौलत राजा का राज्य स्थायित्व को प्राप्त होता है। इसीलिए सच्चे सन्यासियों को चाहिए कि सत्ताधारियों की परवाह न करें। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जो धनी हमें दक्षिणा आदि दें उसकी-जैसी गाथा करें या न देने पर स्वयं घमंडी बनकर अपने सामने किसी को कुछ न समझें। दुनिया के मानने या न मानने पर भी और कुछ मिलने या न मिलने पर भी सन्यासी को चाहिए कि स्वाभाविक रूप से परोपकार में लगा रहे और जो ठीक हो वही कहे और करे।

श्लोक ५२

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थम्
शूरस्त्वं वादिदर्पव्युपशमनविधावक्षयं पाटवम् नः
सेवन्ते त्वां धनाढ्याः मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामाः
मय्यप्यास्था न ते चेत् त्वयि मम नितरामेष राजन् गतोस्मि।

पदच्छेद

अर्थानामीशिषे = अर्थानाम् + ईशिषे
वयमपि = वयम् + अपि
गिरामीश्महे = गिराम् + ईश्महे
यावदर्थम् = यावत् + अर्थम्
शूरस्त्वम् = शूरः + त्वम्
विधावक्षयं = विधौ + अक्षयम्
मामपि = माम् + अपि
मय्यप्यास्था = मयि + अपि + आस्था
नितरामेव = नितराम् + एव

पदान्वय

त्वम् अर्थानाम् ईशिषे वयम् अपि गिराम् यावत् अर्थम् ईश्महे त्वम् शूरः नः अपि वादि-दर्प-व्युपशमन-विधौ अक्षयम् पाटवम् त्वाम् धनाढ्याः सेवन्ते, मति मल हृतये माम् अपि श्रोतु-कामाः (सेवंते) मयि ते आस्था न चेत् मम अपि त्वयि नितराम् (न आस्था) एष राजन् ! गतोस्मि

शब्दार्थ

त्वम्	= तुम	नः	= हमें (भी)
अर्थानाम्	= धन सम्पत्ति के	वादि-दर्प	= शास्त्रार्थ में प्रतिवादी के घमंड को
ईशिषे	= स्वामी, मालिक हो (तो)	व्युपशमन-विधौ	= ठंढा करने की विधि में
वयम् अपि	= हम भी	अक्षयम्	= बेहद
गिराम्	= विद्याओं के	पाटवम्	= पटता है,
यावत् अर्थम्	= समस्त अर्थों के	त्वाम्	= तुम्हें
ईश्महे	= अधिकारी हैं,	धनान्धाः (धनाढ्याः)	= गांठ के अन्धे
त्वम्	= तुम	सेवन्ते	= सेवते हैं (तो)
शूरः	= वीर हो (तो)		

मति-मल-हृतये	=	मन का मल हटाने के लिए	आस्था	=	श्रद्धा
श्रोतु-कामा	=	सुनने की इच्छा रखनेवाले	न चेत्	=	न हो, तो
माम् अपि	=	मुझे भी	माम् अपि	=	मुझे भी
सेवन्ते	=	सेवते हैं	त्वयि	=	तुझमें, तेरे प्रति
ते	=	(यदि) तुझे	नितराम्	=	एकदम (नहीं है)
मयि	=	मुझ में	राजन्	=	अरे राजा
			एष	=	यह देखो
			गतोस्मि	=	मैं चला

भावार्थ

तू एक छोटे-से राज्य का मालिक है तो मैं समस्त शास्त्रों का स्वामी हूँ। धन के अन्धे लालची तेरी खुशामद करते हैं तो मन का मैल धोने के लिए लोग मुझे घेरे रहते हैं। तू शस्त्रास्त्रों के चलाने में शूर है तो मैं शास्त्रार्थ में प्रवीण हूँ। तुझ में और मुझ में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। इसलिए यदि तू मेरा सत्कार नहीं करता है तो मैं भी तेरा आदर एकदम नहीं मानता। राजा, देख यह चला।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के भाव को ही इसमें प्रकारांतर से कहा गया है। यहाँ भी यही सिद्ध किया गया है कि बडे से बडे राजा से एक विद्वान सन्यासी अधिक सम्मान का अधिकारी है। धन के सामने विद्या, स्वार्थमय खुशामद की अपेक्षा साधु सज्जनों की सेवा, समर भूमि के शस्त्रास्त्रों के मुकाबिले में विद्वन्-मण्डली का शास्त्रार्थ कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। धन और खुशामद की अपेक्षा विद्या तथा सेवा की श्रेष्ठता को साधारणतया सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु शस्त्रास्त्रों के धूम-धड़क्के के मुकाबिले में दार्शनिक विवेचन तथा शास्त्रीय समालोना की खिल्ली ही उड़ाई जाती है। यह घोर मूर्खता है। वास्तव में एक कर्मठ विद्वान की गर्जना बम-तोपों की गड़गड़ाहट से अधिक भीषण होती है। सच तो यह है कि शान्ति के समान समरांगण में भी परिष्कृत विचारों का प्रभाव अधिक काम करता है। शस्त्रास्त्रों के चमत्कार और योधाओं के जौहर, वक्ताओं और विद्वानों के शोध पूर्ण परिश्रम के परिणाम ही होते हैं। शस्त्रास्त्रों का

संचय तथा युद्ध के संचालन की प्रक्रिया भी किसी विशेष शास्त्र के अन्तर्गत ही होती है। अन्त में विजय का श्रेय भी उन ही सेनाओं को प्राप्त होता है, जो किन्ही महान उद्देश्यों के प्रति अपनी भेंट चढ़ाने को तत्पर होती हैं। वह भी एक विद्या है किन्तु है विद्या का दुरुपयोग है और यह झूठी विद्या है। इसीलिए परिणाम उसके स्थाई नहीं होते। संसार के बड़े-बड़े सेनापतियों के साम्राज्य उन ही के जीवन-काल में नष्ट-भ्रष्ट हो गये। इसके विपरीत तपोवन-विद्वानों के सिद्धान्तों के सामने कट्टर रूढि वादियों को भी अपना सिर झुकाना पड़ा है। संसार ने उन्हें दिल से स्वीकार किया और उसी से समाज का उत्कर्ष भी हुआ। राजाओं से समाज का संहार ही संहार हुआ है और विद्वानों के विचारों से समाज का सुधार ही सुधार हुआ है और इसी से समाज का अस्तित्व भी कायम है। राम, कृष्ण और मुहम्मद जैसे महापुरुषों ने भी अपने विचारों की स्थापना के लिए अस्त्र भी उठाये जरूर, मगर इन महा पुरुषों में सामारिक शक्तिक के अतिरिक्त अन्य गुण न होते तो यह भी सिकन्दर और पोलियन की तरह महान योधा कहलाते और बस। किन्तु पशुबल का प्रयोग कभी मनुष्यत्व की परिपूर्णता का द्योतक नहीं हो सकता। बुद्ध क्राइस्ट, सुक्रात शंकर और गांधी ही मनुष्यत्व के अच्छे नमूने कहे जा सकते हैं। इसलिए श्लोक में यति का "रे राजा! यह चला" सगर्व कहना और लापरवाही से चल देना उचित ही है।

श्लोक ५३

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।

पदच्छेद

वयमिह = वयम् + इह
वल्कलैस्त्वम् = वल्कलैः + त्वम्
निर्विशेषः = निः + विशेषः
कोऽर्थवान् = कः + अर्थवान्

पदान्वय

वयम् इह वल्कलैः परितुष्ठाः, त्वम् दुकूलैः परितुष्टाः इह परितोषः समः इव, विशेषः निर्विशेषः यस्य तृष्णा विशाला स तु दरिद्रः भवति मनसि परितुष्ठे कः अर्थवान् कः दरिद्रः (वद)

शब्दार्थ

वयम्	= हम	निर्विशेषः	= कुछ नहीं है,
इह	= यहाँ	यस्य	= जिसकी
वल्कलैः	= पेडों के बक्कल से (बक्कल से बने वस्त्रों में)	तृष्णा	= लालच
		विशाला	= भारी हो
परितुष्ठाः	= खुश हैं,	सतु	= वह तो
त्वम्	= तुम	दरिद्रः	= कंगाल
दुकूलैः	= सुन्दर मुलायम् वस्त्रों में	भवतु	= होवे,
		मनसि परितुष्टे	= मन में तृप्ति होने पर
परितुष्ठाः	= खुश हो,		
इह	= इस सम्बन्ध में	कः अर्थवान्	= कौन धनवान है,
परितोषः	= प्रसन्नता	कः दरिद्रः	= कौन दरिद्र है ? अर्थात् दोनों बरा–बर हैं।
समः	= बराबर ही है,		
विशेषः	= भेद		

भावार्थ

सुन्दर पीताम्बर पहनकर तुम जितने खुश हो, वल्कल धारण कर हम भी उतने ही प्रसन्न हैं। इस प्रकार जहाँ तक प्रसन्नता का सम्बन्ध है दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। किंतु वास्तविक बात दूसरी ही है। जिसका जी न भरे वह सब कुछ होते हूए भी कंगाल ही है, और जिसके मन के भीतर संतोष ही वह धनी बनने या दरिद्र बने रहने में समान रूप से प्रसन्न रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में यति राज-दरबार छोड़ कर चल देता है और बन में जा बसता है। तब वह बन के अपने जीवन और दरबार के राजा के जीवन में तुलना करता है। यहाँ पर पहनावे की बात को लेकर कहा गया है कि अपने अपने वल्कल और दुकूलों में राजा और सन्यासी दोनों को समान रूप से प्रसन्नता रहती है। बाहरी पोषाक का प्रभाव भीतर के मन पर समान है। जो ऊपरी अंतर सुन्दरता या दाम की दृष्टि से है उसका विशेष महत्व नहीं है। वस्त्रों के धारण करने पर मन को जो प्रसन्नता प्राप्त होती है वह किसी को कम या अधिक नहीं है। यहाँ वस्त्रों ही को इसलिए लिया गया है कि दुनिया शरीर के ऊपर वाले वस्त्राभूषण ही को देख सकती है, भीतरी मन को जांचने के लिए उसके पास कोई माप-दंड नहीं है। परन्तु असली बात मन के स्थिति की है। इसी मन की स्थिति को लेकर आगे धनी और दरिद्र की व्याख्या की गयी है। राजा केवल राजा होने के कारण धनी नहीं माना जा सकता और न सन्यासी ही पेडों के पत्ते लपेटने से दीन हो सकता है। मन ही की प्रधानता है। यदि मन में तृष्णा समाई हो तो राजा होने पर भी वह दरिद्र ही है।

दरिद्रता क्या है ? आवश्यक वस्तुओं का अभाव ही दरिद्रता है। लालच तभी जोर मारता है, जब मनुष्य यह महसूस करता है कि उसके पास अमुक अमुक चीजें नहीं हैं या कम हैं। राजा उस कमी को महसूस करता है, उसका लालच नहीं पुरता, इसलिए वह निश्चय ही दरिद्र है, दरिद्र ही क्या बल्कि कंगाल है। यह शंका हो सकती है कि क्या एक सन्यासी का सत्कार न करने मात्र से एक सर्व-सम्पन्न राजा कंगाल कहलाने योग्य है ? हाँ, है। मनुष्य जिस वस्तु को प्रचुर मात्रा में पाता है उसे दोनों हाथों से बांट देता है, या कोई उठा ले जावे तो उस पर आक्षेप नहीं करता। जैसे हवा पानी पर कोई रोक नहीं है। इसके विपरीत धन दौलत में से थोड़ासा उठा देने में भी बडी हिचक होती है। बहुत सारा होने का संतोष नहीं होता, बल्कि उस बहुत में से कुछ कमी हो जाने का डर है। साथ ही और भी धन बटोरने की चाह भी रहती है, जो यह सूचित करता है कि जो है वह कम है। कमी का महसूस करना ही दरिद्रता है। दूसरों का लेकर हड़पजाने की इच्छा ही तो कंगालपन है। सामंत शाही के राजाओं में और पूंजीवादी समाज के धनियों में यह दोनों बातें होती हैं। इसलिए वे वास्तव में दरिद्र और कंगाल हैं। इसके विपरीत

ऊपर के सन्यासी पर इस प्रकार का कोई लांछन नहीं लगा सकता क्योंकि वह राजा को धिक्कार कर वन में जाता है। वह दरिद्र नहीं है क्यों कि जो कुछ प्राप्त है उसी में वह संतुष्ट है। छीना झपटी नहीं करता इसलिए वह कंगाल भी नहीं है। यही मिसाल सभी लोगों पर लागू होती है।

श्लोक ५४

फलमलमशनाय स्वादुपानाय तोयम्
क्षितिरपि शयनार्थे वाससे वल्कलं च
नवधन-मधुपान भ्रान्त सर्वेन्द्रियाणा
मविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ।

पदच्छेद

फलमलमशनाय = फलम् + अलम् + अशनाय
क्षितिरपि = क्षितिः + अपि
शयनार्थे = शयन + अर्थे
नोत्सहे = न + उत्सहे
दुर्जनः = दुः + जनः
सर्वेन्द्रियणामविनयमनुमन्तुम् = सर्व + इन्द्रियाणाम्
+ अविनयम् + अनुमन्तुम्

पदान्वय

अशनाय फलम् अलम्, पानाय स्वादु तोयं अलम्, शयनार्थे क्षितिः अपि अलम, वाससे च वल्कलम् अलम् नव-घन-मधुपान-भ्रान्त-सर्व-इन्द्रियाणाम् दुर्जनानाम् अविनयम् अनुमन्तुम् न उत्सहे

शब्दार्थ

अशनाय	= खाने को	अलम्	= बस है,
फलम्	= फल	नवधन	= नई दौलत के (अभी अभी पाये हुए धन के)
अलम्	= बस (हैं),	मधु पान	= नशा पीने से
पानाय	= पीने को	भ्रान्त	= चकराये हुए
स्वादु	= स्वादिष्ट	सर्व इन्द्रियाणाम्	= सब इन्द्रियों वाले
तोयम्	= पानी	दुर्जनानाम्	= दुष्टों के
अलम्	= बस है,	अविनयम्	= धृष्टता को
शयनार्थे	= सोने को	अनुमन्तुम्	= स्वीकार करने का
क्षितिः अपि	= जमीन ही	न उत्सहे	= (हमें) शोक नहीं है ।
अलम्	= बस है,		
वाससे	= ओढने पहनने को		
वल्कलम्	= बक्कल का बाना		

भावार्थ

खाने के लिए फल, पीने के लिए पानी और ओढ़ने के लिए छाल काफी है । इन साधारण आवश्यकताओं के लिए हमें उन दुष्टों की धृष्टता सहना स्वीकार नहीं है, जिन्हें थोड़ासा धन क्या मिल गया मानो शराब के पीने से उनकी होश व हवास ही जाते रहे और उन में अच्छे बुरे की तमीज़ नहीं रही ।

विशेषार्थ

जीवन के लिए खाना, पीना, सोना और पहनना ओढ़ना जरूरी है और ये वस्तुएं बनों में बिना माँगे मिल सकती हैं, यह पिछले श्लोक में कहा जा चुका है। किंतु लोग इन ही वस्तुओं के लिए बस्तियों में दूसरों का आश्रय लेते हैं । धनी और राजा ही इनको आश्रय दे सकते हैं । परन्तु धनियों को शराबी कहा हैं । शारब पीने से बुद्धि मारी जाती है । शरीर के अवयव अपना अपना कार्य ठीक ठीक नहीं कर पाते, बल्कि उल्टा व्यापार भी शुरू कर देते हैं । बुद्धि उचित बात का निर्णय नहीं कर सकती, सब बातों को उल्टे सोचा करती है । आंख, कान अच्छी बातों को देख, सुन नहीं सकते । बुरी चीजें और बुरी बातें ही उन्हें पसन्द

आती हैं। जीभ माँस मदिरा खाने पीने और त्वचा स्त्रियों का आलिंगन करने को तड़पा करती है। इस प्रकार सब बातें उल्टी ही सूझती हैं। इसी को इन्द्रियों का चकरा जाना कहा गया है। यह सब धन के करामात हैं। नंगे, लुच्चे और आवारा भी ऐसे काम करते हैं, किंतु वह भी वास्तव में धन की बदौलत ही ऐसा कर पाते हैं। ऐसे लोगों को हम नवधन-प्राप्त व्यक्ति कह सकते हैं, क्योंकि चोरी, जेब कतरी, डाका और रहजनी से लोग धन लूट लाते हैं और उड़ा डालते हैं। ऐसा धन टिक कर रहता ही नहीं कि वह 'पुराना धन' बन जाय। किंतु यहां पर नव–धन का अभिप्राय ऐसे लोगों से है जो किसी तरह हाल-हाल में धनी हो गये हों—पुराने रईस अर्थात् पुराने पापी न हों। धन चाहे पुराना हो या नया, बात एक ही है। चोरी डाका हो या धन सत्ता, सब एक ही श्रेणी के हैं। बिना लूट के शक्ति भर काम करने और जरूरत भर लेने से समाज में धन इकट्ठा हो ही नहीं सकता। इस नियम के विरुद्ध काम करना ही लूट है और ऐसा धन लूट का माल है।

'माले मुफ्त दिले बेरहम' धन दिल की कोमलता को लूट लेता है। अमीर का बेरहम होना अनिवार्य है। सच्ची बात यह है कि धन का दया, दान, धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इन तीनों वस्तुओं को छोड़ने के बाद ही धन जुटने लगता है। लोगों को धन का नशा हो जाता है। आँखें चढ़ जाती हैं, कान उतर जाते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। जैसे के साथ वैसे साथी भी जुट जाते हैं। कुछ सज्जन भी अपनी जीविका के लिए ऐसे लोगों की दरबार-दारी करने लगते हैं। हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। भले ही वह स्वयं उनकी बुरी बातों को न करें, तो भी उन बातों को देख कर चुप रहते हैं। श्लोक में "हमें ऐसी बातों को सहने का शौक नहीं है," कह कर यही संकेत किया गया है कि ऐसी बातों को सहना नहीं चाहिए।

एक बात और! दुनिया में सम्पत्ति तथा सत्ता का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। ऊपर की यह बातें धनी और सत्ताधारियों पर बराबर लागू होती हैं। परन्तु इन बातों से सभी धनियों तथा सत्ता-धारियों को बुरा मानने की जरूरत नहीं है। यदि उनमें ऊपर की बुरी आदतें न हों तो उन्हें प्रसन्न होना चाहिए कि ये बातें उनके लिए नहीं कही गयी हैं। यदि हों तो उन्हें दिल से दूर करने की चेष्टा करें और आदमी बनें।

श्लोक ५५

अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि
शयीमही महीपृष्टे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ।

पदच्छेद

भिक्षामाशा = भिभाम् + आशा
किमीश्वरैः = किम् + ईश्वरै :

पदान्वय

वयम् भिक्षाम् अश्नीमहि आशावासः वसीमहि
मही पृष्टे शयीमहि वयं ईश्वरैः किम् कुर्वीमहि

शब्दार्थ

वयम्	=	हम	मही पृष्टे	=	भूमि पर
भिक्षाम्	=	भीख	शयीमहि	=	सोवेंगे (तब फिर हम)
अश्नीमहि	=	खावेंगे,	ईश्वरैः	=	धनी और राजाओं से
आशा वासः	=	दिशाओं का वस्त्र	किम् कुर्वीमहि	=	क्या करेंगे (हमें क्या काम ?)
वसीमहि	=	पहिनेंगे अर्थात् नंगे रहेंगे,			

भावार्थ

हम भीख मांग कर पेट भरेंगे, नंगे रहेंगे और भूमि पर लेटा करेंगे। हमें राजाओं से क्या पडी है ? अर्थात् उनके बिना हमारा कुछ अटका नहीं है ।

विशेषार्थ

५३ वें श्लोक में साधारणतया सम्पन्न लोगों को लक्ष्य करके कहा गया था। धनी और राजा दोनों ही इस श्रेणी में आते हैं। पिछले श्लोक में नये-नये बने हुए धनियों के बारे में कहा था। इस श्लोक में पुश्तैनी रईस और राजाओं

के बारे में कहा गया है कि उनके बिना भी हमारा सब काम चलता रहेगा। मनुष्य के लिए चाहिए केवल खाना, कपड़ा और मकान। सो खाने का प्रश्न कंद मूल आदि से हल हो जाएगा। मनुष्य पेट को खाता है अपने लिए, किन्तु कपडे से तन ढँकता है अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए। हर व्यक्ति अपने अंग प्रत्यंग को आप देखता ही है। केवल दूसरे न देखें. इसलिए कपडे से तन ढाँकता है। समाज से दूर जंगल में रहने के कारण दूसरों की आँखों से अपने अंगों को छिपाने का सवाल नहीं उठता। उसके पास माल नहीं, इसलिए उसे मकान की जरूरत नहीं। अब वह किसके लिए किसी राजा या धनी के दरवाजे पर जाए? आवश्यकताओं को एकदम घटा दिया और बिलकुल आजाद हो गया।

श्लोक ५६

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुंचवः
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः।

पदच्छेद

सभ्येतर = सभ्य + इतर
नृपमीक्षितुमत्र = नृपम् + ईक्षितुम् + अत्र
स्तनभारानमिता = स्तनभार + आनमिता

पदान्वय

वयम् न नटाः न गायकाः न च सभ्य इतर वाद–चुंचवः न स्तनभार आनमिता योषितः नृपम् ईक्षितुम् वयम् अत्र के

शब्दार्थ

वयम् न नटाः	= न हम नचवैया हैं,	सभ्य इतर	= सभ्यता से दूर
न विटाः	= न भांड हैं,	वाद चुंचवः	= लबार हैं
न गायकाः	= न गवैये हैं,	न	= (और) न
न च	= और न	स्तन भार	= छातियों के बोझ से

आनमिता	= आगे को झुकी हुई	ईक्षितुम्	= देखने के लिए
योषितः	= रंडिया हैं	वयम्	= हम
नृपम्	= राजा को	के	= कौन हैं ?

भावार्थ

हम नचय्ये नहीं, गवैये नहीं, भांड नहीं, लबार नही या रंडी भी नहीं हैं, जिससे हमारी राजाओं के पास पहुंच हो, अर्थात् रंडियाँ तथा उनकी मंडली के नचैये, गवैये और भांड, लबार की ही पहुँच होती है। वहाँ सज्जनों का गुजर नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में कहा गया था कि यतियों और सन्यासियों को किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं पड़ती जिसके लिए उन्हें राजा, धनियों के पास जाना पड़े। इसमें बतलाया है कि राजाओं के पास यति सन्यासियों के लिए स्थान ही नहीं है। उन्हें रंडी भाँड आदि ही अधिक पसन्द हैं। एक ओर राजा लोग अपने तुच्छ मनोरंजन के लिए ऐसे लोगों के साथ समय बरबाद करने के आदी होते हैं तो दूसरी ओर इन रांड भाडों ने अपने को बरबाद करते हुए दूसरों को बरबाद करने को ही अपना पेशा बना रखा है। धनियों की ओर से इन्हें प्रोत्साहन भी मिलता है। इसके विपरीत सन्यासियों का लक्ष्य संसार की सेवा करना और मनोरंजन से दूर रहना है। इसलिए धनियों से सन्यासियों को कोई सरोकार ही नहीं रखना चाहिए।

साधारणतया समाज में दोनों तरह के लोग होते हैं। एक तरह के लोगों को विलास तथा मनोरंजन प्रिय है तो दूसरी तरह के लोगों को सेवा और सदाचार। यदि पहली श्रेणी के व्यक्ति दूसरी श्रेणी के व्याक्तियों को अपने नियमित जीवन तथा सदाचार से प्रभावित न कर सकें तो दूसरी श्रेणी वालों से सम्पर्क न रखना ही उनके लिए उचित है।

श्लोक ५७

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा
विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते
कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ।

पदच्छेद

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितम् = विपुलहृदयैः + ईशैः + एतत् + जगत् + जनित

विधृतमपरैर्दत्तम् = विधृतम् + अपरैः + दत्तम्

चान्यैर्विजित्य = च + अन्यैः + विजित्य

भुवनान्येन्ये = भुवनानि + अन्ये

धीराश्चतुर्दश = धीराः + चतुर्दश

पदान्वय

पुरा विपुल हृदयैः ईशैः एतत् जगत् जनितम्
अपरः विधृतम् च अन्यैः विजित्य तृणम् इव दत्तम्
इह हि अन्ये धीराः चतुर्दश भुवनानि भुञ्जते
कतिपय पुर स्वाम्ये पुंसाम् एष मदज्वरः कः

शब्दार्थ

पुरा	= प्राचीन काल में	विधृतम्	= धारण किया गया (यानी मालिक बने रहे)
बिपुल हृदयैः	= उदार हृदय वाले		
ईशैः	= सार्व भौम राजाओं द्वारा	च	= और
एतत् जगत्	= यह संसार	अन्यैः	= दूसरों द्वारा
जनितम्	= उत्पन्न किया गया (बसाया गया),	विजितम्	= जीता जाकर
		तृणं यथा	= तिनके के समान
अपरैः	= औरों द्वारा	दत्तम्	= दान किया गया

इह हि	= अब भी	पुर स्वाम्ये	= ग्रामों की मलिकाई पर
अन्ये धीराः	= कई और वीर	पुंसाम्	= लोगों को
चतुर्दश	= चौदह	एष	= यह
भुवनानि	= लोकों को	मद ज्वरः	= घमंड का बुखार
भुञ्जते	= भोगते हैं,	कः	= क्यों है ?
कतिपय	= थोडे से		

भावार्थ

प्रचीन काल में उदार पुरुषों ने सारी धरती को सजाया और उसे बसाया। उसके बाद धर्म–परायण राजाओं ने राज्य किया। कुछ वीर पुरुषों ने दुराचारी राजाओं से पृथ्वी जीती और उसे सदाचारियों को दान किया। आज भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो बडे बडे साम्राज्यों का उपभोग कर रहे हैं। ऐसी दशा में यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि लोग चार–छे गांव की चौधाराई पाकर घमंड में चूर रहते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में राजा और धनियों की मनोवृत्ति की भर्त्सना की गयी थी। इस श्लोक में राजा और सत्ताधारियों का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसके लिए चंद उपमाएं दी गयी हैं। जहाँ पर कुछ नहीं था वहाँ पर प्रजापति आदि महापुरुषों ने इस संसार का सृजन किया, उसे सजाया, बसाया। उसके बाद मनु आदि धर्म–परायण राजाओं ने समाज में धर्म तथा न्याय की व्यवस्था की। तब परशुराम, राजा बली सरीखे पराक्रमियों नें अपने बाहुबल से सारे भूमंडल को जीता, फिर उसे सत्पुरुषों को दे डाला। अब भी ऐसे चक्रवर्ती राजा हैं जिन्होंनें अपने साम्राज्य का विस्तार किया है और जो उसका उपभोग कर रहे हैं।

ऊपर लिखी महापुरुषों की कहानियों से यह भी पता चलता है कि समाज की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर कैसे बदलती गयी। पहले पहल प्रजापति सदृश महानुभाव थे जिन्होंने दिल में किसी प्रकार की भावना लिए बिना संसार का सृजन किया। उसके बाद मनु समान धर्मवान हुए जिन्हें स्वयं समाज ने राज-सिंहासन पर बिठा दिया। तब बलि, परशुराम सरीखे पराक्रमी तथा प्रतिभा

वानों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने दुराचारी राजाओं का संहार करके पृथ्वी को अपने अधीन कर लिया, किंतु ज्यों ही सत्पात्र और सदाचारी पुरुषों को पाया सारा का सारा उन्हें सौंप दिया। अंत में सम्राटों का युग आता है, जो किसी प्रकार छलबल से साम्राज्य का विस्तार करते हैं और उससे अधिक से अधिक सुख भोगते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज का ढांचा किस प्रकार बदलता आया है। पहले निष्काम वृत्ति से सृष्टि की रचना है। फिर सकाम प्रजा पालन आता है। उसके बाद बल का बोलबाला होता है। इस प्रकार समाज में परोपकार की प्रवृति उत्तरोत्तर घटती जा रही है। साम्राज्य शाही ओर तानाशाही में स्वार्थ की पराकाष्ठा हो जाती है। ऐसे ऐसे कारनामों के सामने दो चारठो गांव की चौधराई किस खेत की मूली है? तिस पर भी उन्हें जमीन आसमान कुछ नहीं सूझता। उन्हें सदा बुरी बातें और बुरी सोहबत ही सुहाती है।

श्लोक ५८

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम्
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम्।

पदच्छेद

नृपशतैर्भुवस्तस्याः = नृपशतैः + भुवः + तस्याः
क्षणमपि = क्षणम् + अपि
तदंशस्याप्यंशे = तत् + अंशस्य + अपि + अंशे
तदवयवलेशेऽपि = तत् + अवयव + लेशे + अपि

पदान्वय

यस्याम् क्षणम् अपि नृपशतैः अभुक्तायाम् न यातम्
तस्याः भुवः लाभे क्षिति भृताम् कः इव बहुमानः
तत् अंशस्य अंशे अपि तत् अवयव लेशे अपि पतयः
विषादे कर्तव्ये प्रत्युत जडाः मुदम् विदधति

यस्याम्	=	जिसको	अंशे अपि	=	एक छोटे अंश में भी
क्षणम् अपि	=	एक पल भी	तत् अवयव लेशे	=	उसके छोटे से कण के
नृप शतैः	=	सैकडों राजाओं से	पतयः	=	मालिकों को
अभुक्तायाम्	=	बिना भोगे	विषादे कर्तव्ये	=	दुख मानना चाहिए था
न यातम्	=	नहीं बीता हो	प्रत्युत	=	उल्टे
तस्या भुवः	=	उस भूमि के	जडाः	=	मूर्ख जन
लाभे	=	प्राप्त होने में	मुदम्	=	आनंद
क्षिति भृताम्	=	राजाओं को	विदधति	=	मनाते हैं।
कः इव	=	किस प्रकार का			
बहुमानः	=	सम्मान (है)			
तस्य अंशस्य	=	उसके थोडे से भाग के			

भावार्थ

इस पृथ्वी को सदा से सैकडों राजा महाराजा भोगते रहे और भोग–भोग कर अंत में उसे छोड़ गये। ऐसी जूठन को पाना कोई बड़प्पन की बात नहीं है। फिर साधारण राजा, जमींदार के पल्ले तो उस जूठन का एक छोटा सा टुकडा क्या बल्कि उस छोटे से टुकडे का भी एक कण भर पड़ता होगा। अपनी ऐसी हीनता पर उन्हें रोना और शरमाना चाहिए, किंतु उल्टे वह इतराते और अकड़ते हैं। सचमुच वे बडे मूर्ख हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि थोडी सी रियासत पाने पर लोग घमंड करने लगते हैं। इसमें कहा है कि वास्तव में उन्हें अपनी हीनता पर रोना चाहिए। हीनता और रोना कैसे? कोई व्यक्ति एक रोटी में से कुछ खाकर बाकी छोड़ दे तो कोई भला आदमी उस जूठी रोटी को खाना तो दूर छूता तक नहीं। फिर कोई व्यक्ति पेट भर रोटी खावे, पचाले, फिर पाखाना फिरे तो उसे आंख से देखने में भी दूसरा घिनायेगा। धरती की भी यही दशा समझिए। पृथ्वी को पैदा हुए लाखों करोडों वर्ष होगये। इतने बडे संसार में एक ही समय में उसके एक एक छोटे-बडे टुकडे पर एक एक सरदार, राजा, महाराजा

रहा। उस एक एक टुकडे पर एक ही का एकछत्र आधिपत्य रहा हो, इसमें भी संदेह है। एक दूसरे के राज्य पर दावा, धावा, मारकाट, छीना-झपटी होती ही रही है। कोई लडे या न लडे, या कोई जीते या न जीते, इन दोनों बातों में से एक ही तो हुआ होगा। किसी ने जीवन भर राज्य किया, कोई बीच ही में मर गया या उससे राज छिन गया। हम खाना थाली में लेकर बैठें तो दो ही बातें होंगी। या तो हम पूरा खाना खाकर उठेंगे या बीच ही में हमसे खाना छूट जायेगा—मर जाने से, या कुत्ता छू जाने से या किसी और बात से। हमसे छिन गया तो गोया हमारा जूठा खाना दूसरे ने खाया। अगर हम न मरें, और खाना भी हमसे न छिने तब मानों हमने अपना जूठा आप खाया। जिसे एक बार पेट भरा समझकर छोड़ा था उसी खाने के लिए मुंह बाये बैठ गये। अपना जूठा आप खावें या दूसरे के जूठन के लिए मरे जाएँ, दोनों ही नितांत ओछेपन की निशानी हैं। लोग कुत्ते को नीच समझते हैं, क्योंकि वह मनुष्य का फेंका हुआ टुकड़ा खाता है और पाखाना खाता है। मनुष्य भी तो--राजा, महाराजा, छत्रपति, चक्रवर्ती, नीच करोड़पति, निरंकुश डिक्टेटर, सभी कुत्तों से कैसे उच्च हो गये ? दूसरे का राज ले लिया तो, जूठा खाया। अपने ही राज्य का खाया तो पाखाना खाया, वह भी अपना आप खाया—कुत्तों से बदतर काम। करोडों वर्षों की सृष्टि में अरबों, खरबों······राज्यों राजाओं की बात सोचें तो हमारे अपने जीवन की क्या गिनती ?

एक समय में एक छोटे से राजा या जमींदार के हिस्से में जितनी जमीन पड़ती है वह बालू के एक बडे ढेर में से एक छोटे से कण के बराबर भी तो न होगा। ऐसी हीन वस्तु पर कोई भी बुद्धिमान प्रसन्न नहीं हो सकता। जो कोई होवे वह निरा मूर्ख है। यह तो सामंत युग की बात हुई। पूंजीवाद के युग में भूपतियों का इतना महत्व नहीं है जितना पूंजीपतियों का। किंतु पूंजीशाही भी साम्राज्य शाही में परिवर्तित होती है और अनेकों भूखण्डों को आत्मसात् कर लेती है। पर इससे श्लोक के अर्थ में कोई अंतर नहीं पडता। इस भू माता को जुठाने और पचाने की सभी ने कोशिश की, किंतु भू माता को कौन खा, पचा पाया है ? उल्टे न जाने कितने इस प्रयत्न में मर खप गये और दुनिया के परदे से उनका नाम निशान मिट गया।

श्लोक ५९

मृत्पिण्डोजलरेखया वलयितस्सर्वोऽप्ययं नन्वणुः
स्वांशीकृत्य तमेव संगरशतै राज्ञां गणा भुंजते
नोदद्युर्ददतेऽथ वा किमपि ते क्षुद्रा दरिद्रा भृशम्
धिग्धिक्ता न्पुरुषाधमान्धनकणम् वांछन्ति तेभ्योऽपिये ।

पदच्छेद

वलयितस्सर्वोऽप्ययम् = वलयितः + सर्वः + अपि + अयम्
स्वांशी = स्व + अंशी
नन्वणुः = ननु + अणुः
तमेव = तम् + एव
दद्युर्ददतेऽथवा = दद्युः + ददते + अथवा
किमपि = किम + अपि
धिग्धिक्तान् = धिक् + धिक् + तान्
पुरुषाधमान् = पुरुष + अधमान्
तेभ्योऽपि = तेभ्यः + अपि

पदान्वय

जल रेखया वलयित अयम् मृत् पिण्डः सर्वो:अपि अणुःननु तम् एव राज्ञाम् गणैः संगरशतैः स्वअंशी कृत्य भुंजते भृशम् क्षुद्राः दरिद्राः ते नोदद्युः अथवा किम् अपि ददते तेभ्यः अपि ये धन कणम् वांछन्ति तान् पुरुष अधमान् धिक धिक्

शब्दार्थ

जल रेखाया	= पानी की रेखा से, समुद्र से	मृत् पिण्डः	= मिट्टी का लोंदा
वलयित	= घिरे हुए	सर्वः अपि	= सब मिला कर भी
अयम	= यह	अणुः ननु	= तनिक ही तो है
		तम् एव	= उसी छोटे से माटी के लोंदों को

राज्ञाम् गणाः	= राजा लोग	किम् अपि	= कुछ ही
संगर शतैः	= सैंकडों युद्धों से	ददते	= देते हैं,
स्वअंशी कृत्य	= अपने बस में कर	तेभ्यः अपि	= ऐसों से भी
भुंजते	= भोगते हैं,	ये	= जो लोग
भृशम्	= बहुत ही	धन कणम्	= तनिक धन
क्षुद्राः	= ओछे	वांछन्ति	= मांगते हैं
दरिद्राः	= दरिद्र	तान् पुरुष अधमान्	= उन नीचों को
ते	= वह (राजा)	धिक् धिक्	= बार-बार धिक्कार है
नो दद्युः	= नहीं देते		
अथवा	= या (दें तो भी)		

भावार्थ

यह सारी पृथ्वी माटी का एक लोंदा मात्र है, जो चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है। सृष्टि में इसकी गणना एक कण से भी कम है। ऐसी तुच्छ वस्तु के लिए राजा लोग सैकडों हज़ारों लड़ाइयाँ लड़ कर उसमें से एक चिरकुट पा जाते हैं और उसी में सुख मान बैठते हैं। ऐसे ओछे तथा कंगाल राजा, धनी दूसरों को कभी कुछ दे नहीं सकते। यदि दें भी तो क्या देंगे ? उसी थोडे में से बहुत ही थोडा-सा। जो लोग ऐसे ओछे, कंजूस, मक्खीचूसों से कुछ पाने की इच्छा करते हैं, वास्तव में वह स्वयं महा नीच हैं। उनको बारम्बार धिक्कार है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में राजाओं की हीनता बताने के बाद इस श्लोक में उनकी हीनता को दूसरे ढंग से दर्शाते हुए कहा गया है कि उन ओछों से मांगनेवाला उनसे भी ओछा है। ईश्वर की सृष्टि में हमारी पृथ्वी के सामान न जाने कितने और करोडों खंड हैं। मनुष्य जो कुछ जान पाया है उससे कई गुना अधिक जानना बाकी है। शायद यह जानकारी कभी पूरी भी न होगी। अस्तु।

हमारी यह पृथ्वी चारों ओर समुद्र से सीमित है। किसी ओर बढ़ने-बढ़ाने की गुंजायश नहीं है। सृष्टि में पृथ्वी की तुलना समुद्र के बालू में एक

कण के समान है। मनुष्य ने आजकल जहाजों की मदद से समुद्र पर और विमानों की सहायता से आकाश पर प्रभुत्व जमा रखा है। किन्तु पृथ्वी से कहीं विशाल समुद्र पर और समुद्र से कहीं विस्तृत आकाश पर यह आधिपत्य केवल इसी छोटे से भूखंड को आधीन रखने के लिए तो है। इसी के लिए यह सारा घटाटोप और प्रलयकारी संहार होता है। जो लोग इतनी-सी धरती के लिए ऐसा घोर नर-संहार करते हैं, उन्हें ओछा, अधम, नर–पिशाच, कुछ भी कहा जाए, कम है। तुच्छ स्वार्थ के लिए इस प्रकार पैशाचिकता करनेवालों से कुछ पाने की चेष्टा करना उससे भी बडी नीचता है। स्पष्ट है, यदि वह लोग कुछ देंगे भी तब जब उन्हें विश्वास हो जाए कि इस देने में भी अपने ही स्वार्थ की रक्षा होगी। कहीं उन्हें तनिक भी शंका हो जाए कि यह हमसे छीनने या मुफ्त लेने के लिए ही आया है तो निश्चय मानिए कि उसे भी उन ही हज़ारों लाखों के साथ उमी यमराज को भेंट चढ़ाने में तनिक भी हिचकेंगे नहीं। यह एक पहलू हुआ।

दूसरा सुनिए। यह राज, धन, वैभव बटोरते हैं तो उन ही लाखों, करोडों मिहनतकशों की बदौलत। उनसे ऐंठने के लिए ही यह मिल, राज्य, अदालत, जेल, पुलिस, फौज का पेंच-दर-पेंच पिंजड़ा खड़ा कर रखा है। इन ही चीजों के बल पर बेबसों से पैसा ऐंठा जाता है। ऐसे धन से कुछ पाने के माने सीधे-सीधे उस वसूली में प्रत्यक्ष सहायक हैं उसके कारिन्दे और परोक्ष सहायक हैं दान ले कर उनका गुणगान करनेवाले। यह हुआ उस दान के स्वभाव का विचार।

अब मात्रा की दृष्टि से भी उस दान का विचार कर लिया जाए। सम्पत्ति समाज के सब व्यक्तियों के परिश्रम का परिणाम है। किन्तु एक व्यक्ति उस पर कब्जा कर लेता है। तिस पर भी कोई अपनी सारी सम्पत्ति को दान में नहीं दे डालता। हज़ारों की आमदनी है तो बहुत हुआ तो दस-पांच दे दिया। सैकडों रुपया दान करनेवाला लाखों पर ही हाथ फेरता है। यानी लोग अपनी हथियाई हुई सम्पत्ति में से हज़ारवां हिस्सा दान-धर्म में खर्च कर डालते हैं। इस दान के बाद भी उनकी दौलत म टोटा नहीं पड़ता। इसके विपरीत यदि एक ग़रीब किसी भूखे को भोजन कराता है तो रोज आधा पेट खानेवाले उसके बीबी बच्चे उस जून उपवास ही करेंगे।

इस प्रकार दान में दो बातों का विचार करना होता है। पहले धन कैसा है? मार काट या धोखा–धडी की कमाई तो नहीं है? दूसरे जो धन दान में दिया

जा रहा है, वह उसकी कुल सम्पत्ति का कौन-सा अंश है ? दान के बाद जो बचता है वह दानी के निर्वाह भर है या उसकी सम्पत्ति की हैसियत ज्यों की त्यों बनी रहती है ? बाद की दोनों हालतों में वह दान 'दान' कहलाने योग्य नहीं है। यदि दान को प्रचलित अर्थो में लें तो पहली दशा में सच्ची मिहनत की कमाई में से किए हुए दान का दरजा ऊँचा है और जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का जितना अधिक अंश दान कर दे उस दानी का मरतबा उतना ही अधिक ऊँचा माना जावेगा। इस प्रकार राजा, धनी के सौ रुपये से किसान मजदूर की चवन्नी अधिक मूल्य रखती है। इसलिए वह किसान या मजदूर राजा, धनी की अपेक्षा बड़ा दानी है।

न्यायपूर्ण व्यवस्था में समाज के अन्दर न भीख का नाम रहेगा और न चन्दे की जरूरत ही पडेगी। तब तक के लिए भी भीख माँगने वाले और चन्दा उगाहने वाले यदि इस भावना से काम न करें तो उन पर हजार धिक्कार है। चन्दा मांगना और भीख मांगना दोनों समान हैं। अपने लिए मांगने पर भीख कहलाती है और दूसरों के लिए मांगने पर चन्दा। भले ही 'चन्दा' के नाम पर क्यों न हो, दूसरों के सामने हाथ फैलाने का हक किसको है ? उसी को जिसके पास आप स्वयं देने के लिए कुछ रह न गया हो। सर्व त्यागी ही चन्दा माँगने का अधिकारी है। किन्तु आजकल जिसके पास कुछ न हो, कंगाल कह कर लोग उसे खाने को भी नहीं देते। सत्ताधारी और धनी चन्दा कमेटी के बडे मेम्बर होते हैं। यानी ऐसे लोग सब से बडे भिखारी बनते हैं, और उन्हीं को सब से बड़ कर भीख मिलती है।

धनी ही चन्दा माँगनेवाले और धनी ही देनेवाले। जैसे साधारण आदमी अपने बच्चे को पहले खिलाता है और पूरा खिलाता है, उसी प्रकार धनी अपनी बिरादरी के धनियों को ही चन्दा देते हैं। वास्तव में यह एक निजी धन्धा बन गया है। गरीब भी ऐसे ही धनियों को चन्दा देते हैं। इसके भी दो कारण हैं। गरीब समझते हैं कि इन धनियों और सत्ताधारियों को देने से बदले में हमें भी कुछ मिल जायेगा। धनियों के दिल में दूसरी भावना काम करती है। वह समझते हैं कि जैसे हम इन गरीबों की गाढी कमाई में से चन्दा लेने के अधिकारी हैं, उसी प्रकार उनकी सम्पत्ति में से हिस्सा बटाने के भी अधिकारी हैं। साधारण श्रेणी के जो लोग इन चन्दों में काम करते हैं उनकी हैसियत उन्हीं पंडों और ब्राह्मणों की है जो धनियों के दरवाजे पर पोथी पुराण और पूजा-पाठ करके पेट पालते हैं।

अन्त में यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह सब श्लोक (५७) में वर्णित अन्तिम कोटि के लोगों की बात हो रही है। प्रजापति, मनु, हरिश्चन्द्र सरीखे महा पुरुषों की नहीं।

श्लोक ६०

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलम्
कपालं यस्यौच्चैर्विनिहितमलंकारविधये
नृभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना
नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ।

पदच्छेद

कोऽप्यासीन्मदन = कः + अपि + आसीत् + मदन
यस्यौच्चैर्विनिहितमलंकार = यस्य + उच्चैः + विनिहितम् + अलंकार
कैश्चिदधुना = कैश्चित् + अधुना
पुंसामयमतुल = पुंसाम् + अयम् + अतुल

पदान्वय

यस्य धवलम् कपालम् मदन रिपुणा उच्चैः मूर्ध्नि अलंकार विधये विनिहितम् स कः अपि जातः आसीत् प्राणत्राण प्रवण मतिभिः कैश्चित् नृभिः नमद्भिः अधुना पुंसाम् अयम् अतुल दर्प ज्वर भरः कः

शब्दार्थ

यस्य	= जिसका	उच्चैः	= ऊंचे
धवलम् कपालम्	= उजली खोपडी को	मूर्ध्नि	= माथे पर
मदन रिपुना	= कामदेव के शत्रु महादेव के द्वारा	अलंकार विधये	= सजावट के रूप में
		विनिहितम्	= रखलिया गया है

सः	= वह (ऐसा)	नमद्भिः	= प्रणाम करने वालों पर
कः अपि	= कोई ही (विरला ही)	अधुना	= आजकल
जात आसीत्	= पैदा हुआ है,	पुंसाम्	= (अधिकार संपन्न) लोगों को
प्राण त्राण	= जान बचाने की	अयम्	= यह
प्रवण	= इच्छा से	अतुल	= बेहद
कैश्चित्	= थोडे से	दर्प ज्वरः	= घमंड का बुखार
नृभिः	= मनुष्यों के	कः	= (क्यों) है।

भावार्थ

आजकल तो लोग चार निकम्मे और स्वार्थी लोगों के सामने आकर सिर झुकाते ही मारे घमंड के चूर हो जाते हैं। वास्तव में जिस किसी विरले व्यक्ति के उज्ज्वल कपाल को महादेव भगवान ने माला बना गले में डाल लिया हो उसी का जन्म सफल है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोकों में यह बतलाया गया था कि संसार में साधारणतया जिन बातों की वजह से लोगों को बड़ा माना जाता है वह एकदम निकम्मी वस्तु है। अंत में इस श्लोक के अंदर बताया गया है कि असली बड़प्पन किसमें है। दीन, हीन तथा स्वार्थी जन तो डर या लालच से लोगों के सामने सिर नवाते और उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। दीन हीन ही क्या, राजा धनी भी साधु महात्माओं के चरण छूते और पूजा करते हैं। किंतु प्रायः ये भी उसी डर या लालच से प्रेरित होकर ही ऐसा करते हैं। डरते हैं कि महात्माओंका श्राप न लगे, कोई अनिष्ट घटे न, जो है छिन न जावे, और लालच यह कि संतो के आशीर्वाद मिलें और कुछ और वैभव बढे। किंतु असली बड़प्पन और वास्तविक सम्मान तो तब है जब कोई महापुरुष किसी सत्पुरुष के प्रति प्रेम अथवा श्रद्धा दिखावे। जैसे भगवान महादेव हैं, जिन्होंने संसार के सबसे बडे शत्रु कामदेव को जीत लिया और जो इतने बडे विरक्त हैं कि उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं। ऐसे महादेव भगवान का स्नेह प्राप्त हो गया तो मानो सब कुछ हो गया। संसार के अंदर ऐसे सत्पुरुष भी हुए हैं, जिनके ज्ञान, ध्यान तथा साधना से भगवान महादेव भी प्रसन्न हुए और उनके जीते जी जो कुछ भी ठीक जाना,

दिया और मरने के बाद भी उनके कपाल की माला बनाकर अपने माथे पर चढ़ा लिया। यह है असली सम्मान। मनुष्य को ऐसे ही सम्मान की कामना करनी चाहिए।

कपालधारी महादेव बड़े अच्छे भगवान जरूर हैं। जिसे वह चाहते हैं मरने के बाद भी उसके सिर को अपने सिर पर चढ़ा रखते हैं। पर यह खोपडी मिलती किसकी है। मनुष्य के मरने पर लोग उसे गाड़ देते हैं। हड्डी को भी मट्टी खा जाती है। जो जलाये जाते हैं, वह राख ही हो जाते हैं। गंगा में जो बहाये जाते हैं, न जाने वह किस समुद्र की तह में बैठ जाते हैं। फिर कपालधारी भगवान को किसकी खोपडी मिलती है? उसी की जो अनाथ, लावारिस मर जाते हैं। यानी जिनका कोई पूछने वाला नहीं, लाश भी उठाकर अंत्येष्टि जिसकी करने वाला नहीं, वही भगवान का प्रिय-प्राणी है और उसी की खोपडी महादेव शंकर की सिरमौर हो जाती है। अनाथ का संसार इतना अनादर करता है, परन्तु शंकर भगवान उसी का इतना आदर करते हैं।

षष्टम दशक का सारांश

श्लोक नं.–५१ सर्व-सम्पन्न सम्राट से सर्व-त्यागी सन्यासी का पल्ला भारी है।

–५२ सम्पन्न यदि सन्यासी का सम्मान न करे तो सन्यासी भी उसे धुतकारेगा।

–५३ संतोषी सन्यासी धनी है और कंजूस और लालची धनी कंगाल है।

–५४ धनियों की धृष्टता को सन्यासी कभी नहीं सहेगा।

–५५ त्यागी का कोई काम अटका नहीं रहेगा।

–५६ सम्पन्न के पास रांड–भांड पाखंडी ही रह सकते हैं, त्यागी सन्यासी नहीं।

–५७ इस विशाल सृष्टि में चार गांव की चौधराई पर इतराना मूर्खता है।

–५८ संसार की सम्पत्ति जूठन के समान त्याज्य है।

–५९ शोषण तथा संहार में सम्पन्न बने हुए लोगों से याचना करना मूर्खता है।

–६० धनी मानी नहीं, बल्कि जो पुण्यात्मा भगवान के प्रिय हैं, वही सम्मान के अधिकारी हैं।

इस प्रकार इस दशक में सर्व–त्यागी सन्यासी की मर्यादा की स्थापना करने के बाद अगले दशक में त्याग अथवा भोग की बुनियादी वस्तु मन के नियमन के सम्बन्ध में कहा गया है।

श्लोक ६१

परेषां चेतांसि प्रति दिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेश कलितम्
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिंतामणिगणो
विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते।

पदच्छेद

प्रतिदिवसमाराध्य = प्रतिदिवसम् + आराध्य
त्वय्यन्तस्स्वयमुदित = त्वयि + अन्तः + स्वयम् + उदित
किमभिलषितं = किम् + अभिलषितम्

पदान्वय

हृदय बहुविधा परेषाम् चेतांसि प्रति दिवसम् आराध्य क्लेश कलितम् प्रसादम् नेतुम् किम् विशसि त्वयि अन्तः प्रसन्ने स्वयम् उदित चिन्तामणि गणाः विमुक्त संकल्पः ते किम् अभिलषितम् न पुष्यति

शब्दार्थ

हृदय	= हे मन !	प्रसन्ने	= प्रसन्न होने पर
बहु विधा	= अनेक प्रकार से	स्वयम् उदित	= अपने आप जगी हुई
परेषाम्	= दूसरों के	चिन्तामणि गणाः	= समस्त इच्छाओं को पूरा कर सकनेवाले चिन्तामणि रत्नों के समूह
चेतांसि	= चित्त को	विमुक्त संकल्पः	= छूटी हुई इच्छाओं वाले
प्रति दिवसम्	= प्रति दिन	ते	= तेरी
आराध्य	= प्रसन्न कर	किम्	= कौन
क्लेश कलितम्	= कष्टों से भरे	अभिलषितम्	= इच्छा
प्रसादम्	= कृपा को	न पुष्यति	= न फूलेगी ?
नेतुम	= पाने की		
किम् विशसि	= क्यों चेष्ठा करता है ?		
त्वयि	= तेरे अंदर		
अन्तः	= अन्तः करण के		

भावार्थ

हे मन ! सदा दूसरों को प्रसन्न करने की तेरी चेष्टा बेकार है। इसके विपरीत यदि तू अपने ही शोध में लग जाए तो अपने भीतर ऐसे ऐसे जौहर पावेगा कि तेरे सब संकल्प आप ही आप सिद्ध हो जावेंगे। मन में जब कोई इच्छा ही न रहे तब किसी के अभाव का आभास भी न होगा।

विशेषार्थ

पिछले दशक में सन्यासी की मर्यादा सिद्ध करने के बाद बताया गया था कि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह मात्र सन्यासी का लक्ष्य नहीं है। केवल रहन-सहन और खाना-बाना बदल देने से कोई सन्यास सिद्ध नहीं हो जाता। मन प्रधान है। इस दशक में इसी मन के नियमन के सम्बन्ध में बताया गया है।

इस श्लोक में दो बातें हैं। एक, दूसरों के चित्त पर चढ़ जाना और दूसरे स्वयं अपने मन के भीतर पैठ जाना। पहली चेष्टा बेकार है, क्योंकि इसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं है। सैंकड़ों हज़ारों नहीं, लाखों, करोडों को प्रसन्न करना

किसी एक के बस की बात नहीं है। सब के स्वभाव तथा स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। एक ही व्यक्ति की रुचि भी अलग-अलग बदला करती है। इसलिए एक-आध को भी सब तरह खुश कर सकना असम्भव है। फलस्वरूप उसे सदा दुख ही में दो चार होना पड़ता है। इसके विपरीत दुनिया भर का विचार छोड़ कर अकेले अपनी ही आत्मा की ओर ध्यान देने पर मनुष्य कुछ कर गुजरता है। इस 'अपने' के भी दो पहलू हैं। एक शरीर के बाहरी विषय दूसरे मन की भीतरी स्थिति। बाहरी विषयों के सैकडों रूप हैं और उन सैकडों बातों का पूर्णतया सफल होना उतना ही कठिन है जितना दुनिया के हज़ारों, लाखों मनुष्यों को प्रसन्न करना। इसलिए बाहरी विषयों को छोड़ कर एक मन को पकड़ना आसान है। फिर मन के भीतर भी सैकडों विचार उठा करते हैं। किन्तु किसी एक ही विचार पर स्थिर होने से सफलता की सम्भावना हो सकती है। मन की एकाग्रता के प्राप्त होने पर बाहर की विभिन्नता बाधक नहीं हो सकती। इस प्रकार एक सच्चे सन्यासी की पहचान उसके गृह-परित्याग या वेष-भूषा के परिवर्तन पर नहीं, बल्कि उसकी मानसिक स्थिति से होती है। सन्यासी ही क्या, किसी भी मनुष्य के पहचान की कसौटी उसका मन है न कि उसकी वेष-भूषा और चाल ढाल। इन बाहरी वस्तुओं का मूल्य इतना ही है कि मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है।

कहा गया है कि मन के वश में हो जाने पर उसमें चिन्तामणि रत्नों का ढेर उमंड़ पड़ता है। चिन्तामणि के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उससे मनुष्य की सब कामनाएँ पूरी हो जाती है। जब एक चिन्तामणि में यह सामर्थ्य है तो जब उसका बड़ा ढेर ही मिल जाए तब क्या कहने। तब तो उस मनुष्य की दशा उसी हलवाई की सी हो जाएगी, जो मिठाइयों की ढेर के बीच में बैठने के कारण उसे मिठाई खाने की इच्छा ही नहीं होती। वशीकृत मन का इच्छा-रहित हो जाना अवश्यम-भावी है। उस मनुष्य के भीतर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि इच्छा मात्र से सब काम यथा विधि पूरे हो जाते हैं। यह कैसे होता है ? मनुष्य अपने तक सीमित हो कर संसार पर काबू कैसे पा जाता है? इसका समझना बहुत सरल है। यहां पर 'अपने' का अभिप्राय तुच्छ स्वार्थ नहीं है, बल्कि परमार्थ है। मनुष्य के अपने मन के भीतर टटोलने पर कार्य-अकार्य का विचार करने लगता है। कार्य वही है जो प्राणी मात्र के लिए हितकर हो। यह शंका हो सकती है कि एक मन से सारे संसार का हित कैसे हो सकता है ? वास्तव में एक मनुष्य के भीतर जो शक्ति वर्तमान है वही समस्त संसार में विद्यमान है। ऐसी व्यापक शक्ति को किसी एक

बिन्दु पर केन्द्रित करने पर भी उसकी किरणें सारी जगत् को व्याप्त कर लेती हैं। ऐसा मन ईश्वर का मन्दिर बन जाता है। तब मनुष्य ईश्वर के समान आवश्यकताओं से परे हो जाता है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता का अनुभव न करते हुए भी वह ईश्वर के समान लोक-संग्रह के लिए काम करता रहता है। मानव ईश्वर हो या न हो अथवा वह ईश्वर बने या न बने, लोक-कल्याण की भावना ही मानवता का पूर्ण विकास है। मनुष्य में इस भावना की जितनी कमी पायी जाए उतना ही वह पशुता को प्राप्त होता है। पशु को अपना पेट भरने मात्र से मतलब है, जब कि मनुष्य का उद्देश्य परमार्थ की साधना है। परोपकार की प्रवृत्ति तथा आचरण परमार्थ की जननी है

श्लोक ६२

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यताम्
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पयन्
न तर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ।

पदच्छेद

यद्यथा = यत् + यथा
तत्तथा = तत् + तथा
नान्यथा = न + अन्यथा
अतीतमननुस्मरन्नपि = अतीतम् + अननुस्मरन् + अपि
भाव्यसंकल्ययन् = भावि + असंकल्पयन्
समागमाननुभवामि = समागमान् + अनुभवामि

पदान्वय

चित्त ! किम् मुधा परिभ्रमसि क्वचन विश्राम्यताम्
यत् स्वयम् यथा भवति तत् तथा भवति अन्यथा न भवति
अहम् अतीतम् अन अनुस्मरन् च भावि अपि असंकलयन्
अतर्कित समागमान् भोगान् अनुभवामि

शब्दार्थ

चित्त !	= हे मन !	अहम्	= मैं
किम्	= क्यों	अतीतम्	= बीती (बात) का
मुधा	= व्यर्थ	अन अनुस्मरन्	= विचार न कर
परिभ्रमसि	= घूमा करता है ?	च	= और
क्वचन	= कहीं	भावि अपि	= आगे आनेवाली बात का भी
विश्राम्यताम्	= विश्राम कर	असंकल्पयन्	= विचार न कर
यत्	= जो (बात)	अतर्कित	= बिना इच्छा के
स्वयम्	= अपने आप	समागमान्	= आये हुए, प्राप्त
यथा भवति	= जैसा होना हो	भोगान्	= भोगों को
तत्	= वह	अनुभवामि	= भोगता हूँ
तथाभवति	= वैसा (ही) होगा		
न अन्यथा	= और तरह न होगा		

भावार्थ

हे मन तू बेकार यहाँ वहाँ घूमा न कर। किसी एक जगह टिक जा। होनी होकर रहेगी। न पीछे की बातों पर पछताने से कोई फायदा है और न आगे की बातों पर बिचारने में कोई लाभ। इसलिए जब जो उपलब्ध हो उसका सन्तोष-पूर्वक उपभोग करना चाहिए।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गहा था कि दूसरों को प्रसन्न करने का प्रयास छोड़ अपने ही मन को शोधने की चेष्टा करनी चाहिए। इस श्लोक में कहा गया है कि उतना ही पर्याप्त नहीं है। मन का भिन्न-भिन्न भोगों के पीछे भागना भी बेकार है, क्योंकि जो बात जैसी बननी या बिगड़नी है ठीक वैसे ही बनेगी या बिगडेगी। इसलिए किसी बीती बात पर पछताने या आगे की बात का सोच-विचार करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। किन्तु जब तक शरीर है, भोग से छुटकारा भी तो नहीं है। इसलिए आगे और पीछे की बातों के सम्बन्ध में मन में विचार उठेंगे ही। इस श्लोक में इन ही विचारों को बेकार इधर-उधर भटकने से बचा कर ठीक दिशा में प्रवृत्त करने का उपाय बताया गया है।

पीछे या आगे का विचार छोड़ कर केवल वर्तमान का विचार करना चाहिए, बल्कि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस पर अमल करना चाहिए। इसलिए कि प्रत्येक वर्तमान उस क्षण भर के बीत जाने पर भूत बन जाता है। जो व्यक्ति बीती बात पर पछताता है वास्तव में उसने भूत काल का सदुपयोग नहीं किया, जब वह भूत वर्तमान अवस्था में था। उस बीती बात पर हाथ मलते रहने का नतीजा यह होता है कि प्रस्तुत बात के लिए भी कुछ करते-धरते नहीं बनता। समय बीतने के बाद आज के हाथ पर की बात को पीछे की बात कह कर पछताना पड़ता है और यह तांता कभी खत्म नहीं होता। इसके विपरीत यदि मनुष्य वर्तमान ही का ध्यान रखे तो कभी पीछे की बात पर पछताने का अवसर ही न आवे। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अपने या दूसरों के पिछले बुरे कार्यों की सजा से बचें या भली बातों का उपभोग न करें। वर्तमान के उपयुक्त उपयोग के अन्दर यह दोनों बातें आ ही जाती हैं। अब रही भविष्य की बात। भविष्य की बात भी ठीक वैसी ही है, जैसे भूत की। आज का भूत ही जिस प्रकार पीछे वर्तमान रह चुका है, उसी प्रकार आज का वर्तमान कल के दिन चल कर भविष्य हो जाएगा। वर्तमान का ठीक उपयोग न करने का परिणाम होता है भविष्य का भी विनाश।

इस प्रकार वर्तमान का महत्व सब से अधिक है। वर्तमान दुधारी तलवार है, जो भूत और भविष्य दोनों ओर वार करता है। वर्तमान का ध्यान रखने में यह लाभ है कि उस घडी के बीतने पर पीछे की बात पर मनुष्य को सन्तोष रहेगा और वह सन्तोष आगे के लिए बल देगा और बाद में जब वह भविष्य भी भविष्य न रह कर वर्तमान हो जाएगा, तब वह उसे भी उसी खूबी के साथ निबाहेगा। इसके अतिरिक्त वर्तमान के ठीक-ठीक उपयोग के माने यही हैं कि उसका भविष्य पर अच्छा असर पडे, भविष्य को बिगाडे नहीं। इस प्रकार केवल वर्तमान का ध्यान रखने से भूत और भविष्य दोनों से निश्चिंत हो सकते हैं। किन्तु श्लोक में तो वर्तमान के बारे में यही कहा है कि आपसे आप जो आ पडे उसी को भोगना चाहिए। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुत्र-कलत्र, जन्म-मरण, सुख-दुख आदि दैविक घटनाओं को चुपचाप सहना चाहिए और सन्तोष मानना चाहिए। किंतु, पिछली बातों पर मनन करने या आगे के लिए योजना बनाने की मना ही नहीं है।

श्लोक ६३

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय
श्रेयो मार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात्
शान्तंभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलांगतिम्
मा भूयो भज भंगुरां भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना।

पदच्छेद

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थ = एतस्मात् + विरम + इन्द्रिय + अर्थ
गहनादासकादाश्रयः = गहनात् + आयासकात् + आश्रयः
मार्गमशेष = मार्गम् + अशेष
भावमुपैहि = भावम् + उपैहि
प्रसीदाधुना = प्रसीद + अधुना

पदान्वय

चेतः आयासकात् एतस्मात् इंद्रिय अर्थ गहनात् विरम क्षणात् अशेष दुःख शमन व्यापार दक्षम् श्रेयो मार्गम् आश्रय शान्तम् भावम् उपैहि कल्लोल लोलाम् निजाम् गतिम् सन्त्यज भूयः भंगुराम् भव रतिम् मा भज अधुना प्रसीद

शब्दार्थ

चेतः	= हे मन !	क्षणात्	= तुरंत
आयासकात्	= कष्टदायक	अशेष	= तमाम
एतस्मात्	= इन	दुःख शमन	= दुखों को मिटाने के
इन्द्रिय अर्थ	= इन्द्रियों के विषय रूपी	व्यापार दक्षं	= कार्य में पटु
गहनात्	= बन से	श्रेयो मार्गम्	= कल्याणकारी मार्ग (का)
विरम	= मुंह मोड़ (और)	आश्रय	= शरण ले (और)
		शान्तं भावम्	= शांत भाव को

उपेहि	= प्राप्तकर, अपना ले (और)	भूयः	= फिर से
		भंगुराम्	= क्षणिक
कल्लोल लोलाम्	= पानी की बडी-बडी लहरों के समान चंचल	भव रतिम्	= सांसारिक सुख का
		मा भज	= विचार मत कर (और)
निजाम्	= अपनी	अधुना	= अब
गतिम	= चाल को	प्रसीद	= प्रसन्न हो जा।
संत्यज	= एकदम छोड़ दे,		

भावार्थ

रंग, रूप, रस आदि इन्द्रियों के विषय बीहड़ बन के समान अति दुखदायी हैं। इसलिए हे मन इन विषय-वासनाओं से एकदम मुंह फेर ले। इस के विपरीत ज्ञान का मार्ग समस्त दुखों को हरने वाला और शाश्वत सुख का देने वाला है। इसलिए तू तुरन्त इस कल्याणकारी मार्ग का राही बन कर शांत चित्त हो जा। चपलता छोड़ दे, सांसारिक भोगों की इच्छा न कर और सदा संतोषी बना रह।

विशेषार्थ

इस श्लोक का पहला शब्द 'एतस्मात्' पिछले श्लोक में कही गयी बातों की ओर संकेत करता है। पिछले श्लोक में 'वर्तमान' मात्र का ध्यान रखने को कहा गया था। इस श्लोक में इस वर्तमान में भी सांसारिक सुखों से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है और इसे श्रेय का मार्ग कहा गया है। क्षणिक सुखों को प्रेय और शाश्वत सुखों को श्रेय कहते हैं। प्रेय सांसारिक है और श्रेय स्वर्गीय। प्रेय तात्कालिक सुख देने वाला है और श्रेय अमोघ शांति प्रदान करने वाला है।

पिछले श्लोक में उदासीन भाव से जीवन बिताने की जो शिक्षा दी गयी थी वह इसी प्रेय मार्ग को उद्देश्य करके कहा गया था। किंतु श्रेय के प्रति उदासीनता वांछनीय नहीं है। साधारण मनुष्य को प्रेय मार्ग अच्छा लगता है अर्थात् सांसारिक सुख प्रिय लगते हैं। जहाँ शरीर है वहाँ संसार को भोगना भी अनिवार्य है। इससे कोई बच नहीं सकता। इसलिए हमें सांसारिक सुखों को

(अथवा दुखों को) उदासीन भाव से भोगते जाना चाहिए। परन्तु जहां तक श्रेयोदायक वस्तुओं का सम्बन्ध है उनके लिए खुशी खुशी दुखों को सह कर उनकी प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए। इसमें देर हो सकती है, पर अंत में स्थाई शांति की प्राप्ति होती है।

शब्द 'एतस्मात्' से चारों ओर के इस जगत की ओर भी संकेत है। इस शरीर को सुख देने वाली और इस संसार के साथ समाप्त होने वाली सभी वस्तुएं प्रेय हैं। जो लोग क्षणिक सांसारिक सुख के लिए जीवन विताते हैं वे प्रेय मार्ग के अनुगामी है। इस के विपरीत जो परहित में जीवन लगाते हैं वे श्रेय पथगामी हैं। परन्तु परहित में भी भावना प्रधान है। इसीलिए शांत भाव से काम करने और चपलता को छोड़ने की बात कही गयी है। जन-हित के कार्य करने वालों में दोनों ही प्रकार के लोग पाये जाते हैं। जो लोग शांत भाव से कर्तव्य समझ कर सेवा कार्य में संलग्न रहते हैं वे श्रेयाभिलाषी हैं और जो मनमें धन सत्ता गौरव की भावनाओं को लेकर जन हित का स्वांग रचते हैं वे सेवामें तल्लीन दीखते हुए भी वास्तव में प्रेयाभिलाषी हैं। सच्चे सेवक को चाहिए कि प्रेय-पथ को त्याग कर श्रेय मार्ग का अवलम्बन करे, भले ही इस में उसे दुख झेलना पडे धन न मिले, नाम न मिले, बल्कि बदनामी भी क्यों न मिले-क्योंकि स्वार्थी लोग अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए सचाई को बदनाम करने में कोई कसर उठा न रखेंगे।

यहाँ पर सवाल उठता है कि क्या सार्वजनिक सेवा कार्य करने वालों को ही श्रेय की प्राप्ति होगी और घर गृहस्थी में लगे हुए लोगों का कभी उद्धार न होगा? इस की आशंका तनिक भी नहीं है। जिस प्रकार जन सेवा की आड़ में स्वार्थ सिद्ध करने वाले अधिक होते हैं, उसी प्रकार अपने अपने धंधों में लगे हुए लोगों में भी निजी काम करते हुए परहित करने वाले अधिक पाये जाते हैं। दूसरों को हानि पहुंचाए विना, बल्कि अपने काम के द्वारा दूसरों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले परोपकारी और पुण्यात्मा ही हैं। जैसे किसान खेती करके अपने बालबच्चों का पोषण करता है, मगर साथ ही समाज के लिए अन्न उपजाता है और यह जन सेवा है। इसी प्रकार चमार, कुम्हार, लोहार मजदूर भी जन सेवक हैं। एक दृष्टि से ये लोग सार्वजनिक सेवा कार्य करने वालों की अपेक्षा अधिक आदर के पात्र हैं, क्यों कि जो कुछ ये करते हैं उससे लाखों को लाभ होता है और फिर इतनी सेवा करते हुए वह सेवा का अभिमान नहीं करते। इसके विपरीत सेवा की ध्वजा उठाने वाले टट्टी की आड में शिकार खेलते हैं।

इसलिए उनकी सेवा में यदि स्वार्थ का भाव रहा तो वह निश्चय ही पापी हैं। महात्मा, महंत का भेस रखकर व्यभिचार, अत्याचार करने वाला खुले आम चोरी डाका करने वाले से कहीं अधिक खतरनाक है। निजी धंधा करलें या जन सेवा करें, दोनों में भी स्वार्थ और सत्य की परख जनता नहीं कर सकती। यदि करे भी तो बहुत देर में समय बीत जाने के बाद करेगी। हर व्यक्ति अपनी परख आप ही कर सकता है। कार्य में भावना प्रधान है और भावना को बाहर का कोई आदमी देख नहीं सकता। अपनी भावना का साक्षी आप ही होता है या भगवान।

श्लोक ६४

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूड़ामणौ
चेतः स्वर्ग तरंगिणीतट भुवामासंगमंगीकुरु
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च श्रीषु च
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सुहृद्वर्गेषु च प्रत्ययः।

पदच्छेद

तामुपार्जय = ताम् + उपार्जय
चन्द्रार्ध = चन्द्र + अर्ध
भुवामासंगमंगीकुरु = भुवाम् + आसंगम् + अंगीकुरु
तडिल्लेखासु = तडित् + लेखासु
ज्वालाग्रेषु = ज्वाल + अग्रेषु

पदान्वय

चेतः मोहम् मार्जय अर्द्ध चन्द्र चूड़ा मणौ ताम् रतिम् उपार्जय
स्वर्ग तरंगिणी तट भुवाम् आसंगम् अंगीकुरु
वीचिषु बुद्बुदेषु तडित् लेखासु श्रीषु
ज्वाल अग्रेषु पन्नगेषु च सुहृद् वर्गेषु को वा प्रत्ययः

शब्दार्थ

चेत:	= हे मन !	वीचिषु	= जल के तरंगों पर
मोहम्	= अज्ञान को	बुद् बुदेषु	= पानी के बुलबुलों पर
सार्जय	= छोड़ डालो (और)		
अर्द्धचन्द्र चूडामणौ	= अर्द्धचन्द्र जिसकी सिर-मौर है	तडित् लेखासु	= बिजली की रेखा पर
		श्रीषु	= धन वैभव पर
ताम्	= उस महादेव में	ज्वाल अग्रेषु	= आंच की लौ पर
रतिम्	= प्रीति	पन्नगेषु	= साँपों पर
उपार्जय	= प्राप्त कर,	च	= और
स्वर्ग तरंगिणी	= देव नदी गंगा के	सुहृद् वर्गेषु	= मित्र मंडली पर
तट भुवाम्	= तटवर्ती स्थानों में	को वा प्रत्यय:	= कौन विश्वास है अर्थात् कोई विश्वास नहीं
आसंगम्	= निवास		
अंगीकुरु	= बनाले (क्योंकि)		

भावार्थ

मोह को छोड़ दो, महादेव जी में मन लगाओ और गंगाजी के तट पर वास करो। इस संसार में जल के तरंगों, पानी के बुलबुलों, बिजली की चमक, आग की लौ, साँपों, सम्पत्तियों तथा मित्रों का कोई विश्वास नहीं है।

विशेषार्थ

पिछले दो श्लोकों में से पहले में 'प्रेय' से उदासीन रहने और श्रेय में मन लगाने की बात कही गयी थी। इस श्लोक में उन दोनों श्लोकों के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करके बताया गया है कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। बताया है कि मोह को त्यागना, पावन प्रदेशों में निवास करना तथा भगवद् भजन करना श्रेय है। धन सम्पत्ति और बंधु मित्रों के मोह में फंसना प्रेय है। प्रेय पदार्थों का कोई विश्वास नहीं। इस लिए श्रेय में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि प्रेय में तात्कालिक सुख प्राप्त होने पर भी उसमें धोखा है, बाद में पछताना पड़ेगा। इसके विपरीत श्रेय में विपत्तियों के टूट पड़ने पर भी वह अंत में लाभ दायक ही

सिद्ध होंगे। प्रेय के सुखों में भूल न जाना और श्रेय के दुखों से व्याकुल न होना ही मोह का परित्याग है।

प्रेय के सिलसिले में 'श्री' तथा 'सुहृत्' दोनों की चर्चा की गयी है। तरंग, बुलबुला, बिजली, आग की लौ, सांप के फन की जो उपमाएं दी गयी हैं वह 'श्री' तथा 'सुहृत्' दोनों पर ही लागू होती हैं। किंतु प्रथम तीन 'श्री' के लिए और अंतिम दो सुहृत् के लिए अधिक उपयुक्त हैं। जान पड़ता है, 'श्री' जलतरंग के समान चंचल, पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर और बिजली की चमक के समान चकाचौंध करनें वाली है। बंधु मित्र आग की तरह जला डालने वाले और सांप की तरह डसने वाले हैं। इसलिए यह दोनों विश्वास करने योग्य नहीं हैं। इसके विपरीत महादेव जी का ध्यान भजन श्रेयस्कर है और इसमें किसी प्रकार का धोखा नहीं है।

किंतु जल, ज्वाला और सर्प आदि से बचने और शंकर भगवान को सेवने की जो बात कही गयी है, यह सब महादेवजी के साथ भी मौजूद हैं। उनकी जटाओं में से गंगा जी बह निकलती हैं, माथे में तीसरे नेत्र से आग की ज्वाला निकला करती है और गले में सांप लपेटे हैं। इस दृष्टि से श्लोक के उत्तरार्ध का यह भी अभिप्राय लिया जा सकता है कि इन प्रतीकों को पूजना भी मोह अथवा अज्ञान है 'ताम् रतिम् उपार्जय' कहकर केवल विशुद्ध भक्ति की ओर संकेत किया गया है।

श्लोक ६५

चेतश्चिंतय मा रमां सकृदिमामस्थानिनीमास्थया
भूपाल भृकुटीकुटीविहरणव्यापारपण्यांगनाम्
कंथाकंचुकिनः प्रविश्य भवनद्वाराणि वाराणसी
रथ्यापंक्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षामपेक्षामहे।

पदच्छेद

सकृदिमामस्थायिनीमास्थया = सकृत् + इमाम् +
अस्तायिनीम् + आस्थया

पण्यांगनाम् = पण्य + अंगनाम्

भिक्षामपेक्षामहे = भिक्षाम् + अपेक्षामहे

पदान्वय

चेतः भूपाल भृकुटी कुटी विहरण व्यापार पण्यांगनाम्
इमाम् अस्थायिनीम् रमाम् सकृत् आस्थया मा चिन्तय
वाराणसी रथ्या पंक्तिषु कन्था कंचुकिनः
भवन द्वाराणि प्रविश्य पाणिपात्र पतिताम् भिक्षाम् अपेक्षामहे

शब्दार्थ

चेतः = हे मन (तू)
भूपाल = राजाओं के
भृकुटी कुटी = भौंहों की कुटी में
विहरण व्यापार = विचरने के काम में
पण्यांगनाम् = वेश्या–पैसे पर बिकने वाली (जो है)
इमाम् = इस
अस्थायिनीम् = अस्थिर
रमाम् = लक्ष्मी, धन की
सकृत् = कभी भी
आस्थया = आदर के साथ
मा चिन्तय = चाह न कर

(हम तो)
वाराणसी = काशी (बनारस) के
रथ्या पंक्तिषु = राज-मार्ग में, गलियों में
कन्था कंचकिनः = कथरी ओढ़ कर
भवन द्वाराणि = घरों के दरवाजों पर
प्रविश्य = जा कर
प्राणि पात्र = हथेली रूपी करवे में (अंजुली में)
पतिताम् = पडी या पाई हुई
भिक्षाम् = भीख को
अपेक्षामहे = पसन्द करते हैं

भावार्थ

धन का स्वभाव महा चंचल है। रंडी की सी उसकी चाल है और वह रहती सदा राजाओं के भौंहों के बीच है, जो कभी भी तन

सकती हैं। इसलिए हे मन, तू कभी ऐसे धन की चाह न कर। उसकी बड़ाई न कर। अब हमारा इरादा यही है कि कथरी कन्धे पर डाल करवा हाथ में ले पुण्यपुरी काशी जी की गलियों में दर-दर भीख मांग कर गुजारा करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में प्रेय के परित्याग के सिलसिले में घर, सम्पत्ति तथा बन्धुओं से दूर हो जाने की बात कही गयी थी। फिर कैसे निर्वाह करें ? यही इस श्लोक में बताया गया है। घर छोड़ काशी-वास करें, वैभव त्याग कथरी संभालें और भाई-बन्धुओं की जगह संसार को ही अपना समझ सभी घरों से भिक्षा लें। इसमें सन्देह नहीं कि त्याग मूर्ति का यह सजीव चित्रण है। किन्तु यहाँ पर मूर्तिमान त्याग के सजीव चित्र का प्रश्न नहीं है। घर पर न रहा, काशी जी में रहा—बहुमूल्य वस्त्र आभूषण नहीं पहिने, कथरी डाल ली—स्त्री और बच्चों के बीच खाया-पिया नहीं, दर-दर कौर माँगी, इसमें अन्तर क्या पड़ता है ? काम तो वही हुए। काम तो वही करें पर बिना कारण शरीर और मन को कष्ट क्यों दें ? क्या अधिक दुख भोगने में ही मुक्ति है ? यह बात नहीं है। धन, वैभव आदि अस्थाई हैं। यह अन्त में कष्ट के ही कारण होते हैं। इसलिए इन में मन न लगावें, यही इसका अभिप्राय है। मन नहीं मानता, शरीर सहन नहीं कर सकता, इसलिए शरीर को थोड़ा-सा कष्ट दे कर मन को इसका अभ्यस्त बनाना पड़ता है। यदि लंगोटी लगाने और कौर खाने के बाद भी मन सांसारिक सुख के लिए तिलमिलाया करे तो उस त्याग तथा कष्ट सहन से कोई लाभ नहीं। बल्कि धन दौलत के बीच झूला झूलते हुए भी यदि मन उसमें फंसा न रहे तो मन को मारने के लिए किसी अभ्यास की जरूरत ही नहीं है।

यहाँ पर एक शंका उठती है। जब भोग या त्याग दोनों बाहरी वस्तुएँ हैं और मुख्य वस्तु मन है और इस मन को अन्ततोगत्वा त्याग की भावना से भी उतना ही उदासीन रहना है जितना भोग से। तब त्याग के पीछे शरीर को क्यों कष्ट दिया जाए और मन पर अत्याचार क्यों किया जाए ? ठीक है, किन्तु यदि उदासीनता को भी अभ्यास द्वारा ही सिद्ध करना हो, तो उसी तरीके को अपनाना होगा जिससे मन में ऐसी भावना उत्पन्न हो। त्याग और निवृत्ति का मार्ग सदा मन को इसी उदासीनता की ओर ले जाता है। इसके विपरीत

भोग तथा प्रवृत्ति का मार्ग मन में लोभ और मोह के भाव को अधिकाधिक बढ़ाता है। इसके अलावा, त्याग हो अथवा भोग, जब मनुष्य उनकी अन्तिम सीमा पर पहुँचता है, तभी उसे असलियत का आभास होने लगता है। लंगोटी लगाना और भीख माँगना निवृत्ति-मार्ग की अन्तिम सीमा कही जा सकती है। इससे भी बढ़ कर त्याग तथा स्वेच्छापूर्ण सहनशीलता की कल्पना करना कठिन है। इसके बाद अवधूत बन जाना ही बाकी रह जाता है। इसके विपरीत भोगेच्छा को बढ़ाते हुए थोड़ा तृप्त कर लेने का प्रयत्न करेंगे तो इसमें सफलता की आशा नहीं। भोग की कोई सीमा नहीं है। संसार में एक से एक बढ़िया भोग-सामग्री बढ़ायी जा सकती है। संसार से परे स्वर्ग की इच्छा भी इसी भोग की ही परिधि में आता है। यह दूसरी बात है कि तुलसीदास, बिल्वमंगल आदि को भोग के द्वार पर ही त्याग का पाठ मिला, और जनक आदि ने प्रवृत्ति में ही मुक्ति पायी। परन्तु यह अपवाद ही हैं। साधना के लिए निवृत्ति-मार्ग ही वाँछनीय है। त्याग के मार्ग में भोग बहुत बडी बाधा है। कामिनी-कांचन भोग के सबसे बडे प्रतीक हैं। साधक को इन दोनों से दूर रहना जरूरी है।

इस श्लोक में कामिनी और कांचन का अच्छा जोड़ भिड़ाया गया है। धन को 'पण्यांगना' कहा है। 'पणि' प्राचीन भारत में एक सोने का सिक्का था। पणि-अंगना के माने हैं पैसे पर अपना शरीर सौंपनेवाली स्त्री अर्थात् बाजारू रंडी। लोग धन को धन-लक्ष्मी भी कहते हैं। धन-लक्ष्मी और पण्यांगना में शब्द की दृष्टि से विशेष अन्तर नहीं है। किन्तु दोनों शब्दों का उपयोग अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। एक को लक्ष्मी माना जाता है और दूसरे को वेश्या। किन्तु इस श्लोक में सिद्ध किया गया है कि जिसे सब लक्ष्मी कहते हैं वह वास्तव में बाजारू रंडी है। जिस प्रकार सांसारिक जीवन के सुधार के लिए बाजारू रंडियों से बचना जरूरी है उसी प्रकार पारलौकिक सुरक्षा के लिए धन-लक्ष्मी से दूर रहना आवश्यक है। मुक्ति के मार्ग में धन-लक्ष्मी वास्तव में पण्यांगना है।

श्लोक ६६

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम्
यद्यस्तेवं कुरु भवरसास्वादने लंपटत्वं
नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ।

पदच्छेद

पार्श्वयोर्दाक्षिणात्याः = पार्श्वयोः + दाक्षिणात्याः
पश्चाल्लीला = पश्चात् + लीला
यद्यस्तेवम् = यदि + अस्ति + एवम्
भवरसास्वादने = भव रस + आस्वादने
नोचेच्चेतः = नोचेत् + चेतः

पदान्वय

अग्रे गीतम् पार्श्वयोः दाक्षिणात्याः सरस कवयः पश्चात् चामर ग्राहिणीनाम् लीला वलय रणितम् यदि एवम् अस्ति चेतः भवरस आस्वादने लम्पटत्वम् कुरु नो चेत् निर्विकल्पे समाधौ सहसा प्रविश

शब्दार्थ

अग्रे गीतम् = आगे गाना हो,
पार्श्वयोः = दायें बायें
दाक्षिणात्याः = दक्षिण देशके
सरस = रसिक
कवयः = विद्वान (हों),
पश्चात् = पीछे
चामर ग्राहिणीनाम् = चंवर हाथों में ली हुई युवतियों की
लीला = अदा के साथ

वलय रणितम् = कंगन की झनकार हो,
यदि = अगर
एवम् = इस प्रकार
अस्ति = हो (तो)
चेतः = हे मन ! (तू)
भव रस = संसार के सुखों के
आस्वादने = चखने का, भोगने का
लम्पटत्वम् कुरु = लालच कर

नो चेत्	= (यदि ऐसा) न हो तो	समाधौ	= समाधि में
		सहसा	= तुरंत
निर्विकल्पे	= विकल्प रहित, स्थिर	प्रविश	= प्रवेश कर

भावार्थ

सामने गवैयों के मधुर गान हों, पीछे चंवर डोलाती हुई युवतियों के कंगन की झन्कार हो, दायें बायें दक्षिण भारत के विद्वानों की कविता गोष्ठि हो, यदि इतना वैभव प्राप्त हो तो संसार का सुख भोगने में कुछ मज़ा भी है। नहीं तो अच्छा यही है कि मन को तुरंत विषयों से हटा कर वैराग्य द्वारा स्थिर—समाधि की प्राप्ति का प्रयत्न करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में वैराग्य की शिक्षा देते हुए कहा गया था कि सांसारिक सुखों के मुख्य साधन धन से मन को हटा लेना चाहिए। इस श्लोक में कहा गया है कि यदि मन में भोग की इच्छा हो तो उसका पूर्णतया भोग करना ही चाहिए जिससे तृष्णा शेष न रहे। पिछले श्लोक में एक वैराग्य—सम्पन्न व्यक्ति का सुन्दर चित्र सामने रखा गया था। इस में भोग की मनोहारिणी चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार पिछले श्लोक में त्याग की सीमा तक ले गया था उसी प्रकार इसमें भोग की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है। फिर भी भोग को ही जीवन का आदर्श नहीं माना है। श्लोक की शब्दावली से इसकी पूरी पुष्टि होती है। आगे पीछे औरतें हों, गाना बजाना हो, तब भी अगल बगल विद्वानों को बिठाकर यही बतलाया गया है कि कानों में सदा शास्त्रीय चर्चा का ही समावेश हो। इतनी बंदिश के बाद भी भोगी जीवन को सम्मानित नहीं बल्कि लम्पट कहा गया है। एक अत्यन्त सुखी जीवन का चित्रण किया गया है कि भोग से जी भर जाय और वैराग्य की ओर झुके। अंत में 'सहसा समाधि' की बात कह कर यह सिद्ध किया गया है कि मन को शीघ्र वश में करने का उपाय निवृत्ति ही है। प्रवृति का मार्ग सुखकर होते हुए भी देर का है। कैसे? यह अगले श्लोक में बताया गया है।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है। राज दरबार का जो वर्णन इस श्लोक में है ऐसा लगता है कि यह स्वयं भर्तृहरि का स्वानुभव है। नहीं

तो इतना सुन्दर वर्णन देना कठिन है। इस विचार की पुष्टि इससे भी होती है। भर्तृहरि का कहना है कि मैंने ऐसे सुख भोग डाले हैं, उनमें जो सुख है वह स्थाई नहीं है। क्षणिक सुख का आनंद पाना भी हो तो कम से कम इतना वैभव होना ही चाहिए। और यदि वह विद्वान तथा ज्ञानी हो तो उससे जरूर जी भर जावेगा, जैसा भर्तृहरि को स्वयं हुआ है। तभी वह विश्वास के साथ कह सकता है कि इस सुख में कोई सार नहीं है। इसीलिए विना विलम्ब समाधि का आश्रय लेने की शिक्षा दी गयी है।

श्लोक में विद्वानों के साथ दाक्षिणात्य का विशेषण यह सिद्ध करता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी दक्षिण में उत्तर की अपेक्षा संस्कृत साहित्य का अधिक प्रचार था। आज के समान तब भी सारे भारत में दक्षिणी विद्वानों की धाक थी। याद रहे यहाँ पर विशेष व्यक्तियों की बात नहीं हो रही है। बहरहाल यह इस बात का खंडन है कि केवल मुसलमानों के आक्रमण या उनके सदियों के सम्पर्क के कारण आर्य संस्कृति में संकर उत्पन्न हो गया। सच्ची बात तो यह है कि द्रविडों की सभ्यता तथा संस्कृति आर्यो की अपेक्षा अधिक उन्नत थी। प्राचीन अवशेष तथा अर्वाचीन नमूने ही इसके प्रमाण हैं। बल तथा बर्बरता में आक्रमणकारी आर्य अवश्य ही बढे चढे थे, किंतु सुसंस्कृत, शान्तिप्रिय द्रविड बौद्धिक दृष्टि से तथा कला कौशल में आर्यों को शुद्ध करने की क्षमता रखते थे और किया भी। किंतु कठिनाई तो यह है कि किस को शुद्ध द्रविड अथवा शुद्ध आर्य कहा जाए? क्योंकि सम्मिश्रण ही संस्कृति की जननी है।

श्लोक ६७

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किम्
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्
सम्पादिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किम्
कल्पस्थितास्तनुभृतां तनवस्ततः किम्।

पदच्छेद

कामदुधास्ततः = कामदुधाः + ततः
विभवैस्ततः = विभवैः + ततः
कल्पस्थितास्तनुः = कल्पस्थिताः + तनु :
तनवस्ततः = तनवः + ततः

पदान्वय

तनु भृताम् सकल काम दुधाः श्रियः प्राप्ताः ततः किम्
विद्विषताम् शिरसि पदम् न्यस्तम् ततः किम्
विभवैः प्रणयिनः सम्पादिताः ततः किम्
कल्पस्थिताः तनवः (सम्पादिताः) ततः किम्

शब्दार्थ

तनु भृताम्	=	शरीर धारियों को (मनुष्यों को)
कामदुधाः	=	सब इच्छाओं की पूर्ति करनेवाली
श्रियः	=	सम्पदाएँ
प्राप्ताः	=	मिल गयीं (तो)
ततः किम्	=	उससे क्या हुआ ? (इसी प्रकार)
विद्विषताम्	=	शत्रुओं के
शिरसि	=	सिरों पर
पदम्	=	पैर
न्यस्तम्	=	रख दिया (तो)
ततः किम्	=	उससे क्या ?
विभवैः	=	धन-दौलत से
प्रणयिनः	=	मित्रों को
सम्पादिताः	=	प्राप्त किया (तो)
ततः किम्	=	उससे क्या ? (और)
कल्पस्थिताः	=	कल्पांत तक रहने वाला
तनवः	=	शरीर
सम्पादिताः	=	पाया (तो)
ततः किम्	=	उससे क्या ? अर्थात् सब व्यर्थ है।

भावार्थ

इतनी सारी धन-सम्पत्ति के मालिक हो जाएं कि बे रोक-टोक मन चाहा काम हो जाए, इतना बल पौरुष प्राप्त हो जाए कि सब

दुश्मनों को कुचल डालें, इतने सम्पन्न हो जाएं कि सब बन्धु-मित्रों को खुश कर सके और खुद कल्पांत तक जीते रहें, सब कुछ हो जाए, तो भी इन सब से कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता। सब निरर्थक है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि खूब सुख सामग्री हो, जी भर कर सुख भोगा भी जाए, किन्तु इतने वैभव का प्राप्त होना और उससे मन का छक जाना दोनों अनहोनी बातें हैं। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसे कल्पनातीत सुख से भी कुछ नहीं होने का। मान लो कि एक व्यक्ति ऐसा है कि उसकी सभी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं, उसने अपने शत्रुओं को एकदम कुचल डाला है, दे दिला कर, खिला-पिला कर बहुतों को अपना दोस्त बना लिया है और यह भी गारंटी हो गयी कि वह कल्प के अन्त तक जीता रहेगा और साथ ही बे खटके सब सुखों को भोगता रहेगा, तो भी वह सुखी नहीं रह सकता। क्यों? अब उसे किस बात का टोटा है? धन-संग्रह, शत्रु-हनन, मित्र सम्पादन और अमर जीवन, इन चारों बातों के भीतर वास्तव में एक ही भावना काम कर रही है और वह है धन-लिप्सा। इसी धन को बचाने के लिए शत्रु-संहार होता है, इसी की प्राप्ति के लिए मित्र-मण्डली इकट्ठी होती है और इसी के भोगने के लिए लम्बी-चौडी आयु का लालच होता है। सुख-भोग में शत्रु और मृत्यु को सभी बाधक मानते हैं, किन्तु यह कोई सोचता नहीं कि स्वयं धन तथा मित्र भी उस सुख में उतने ही बाधक हैं। श्लोक ६४ में बन्धु-मित्रों को आग और सर्प के समान भयावने बताया गया है और जिस धन से यह सब किया जाता है उसकी तुलना पानी के बुलबुले या बिजली की चमक से की गयी है। इस तरह सिद्ध हो जाता है कि लोग जिनसे प्रेम करते हैं वह भी खतरे से खाली नहीं है। प्रेय का मार्ग ही ऐसा है।

यहाँ पर शत्रु-मित्र, इन दो शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर लें। एक के पास धन-दौलत की भरमार है। स्वभावतः सभी लोग उसे चाहेंगे। सबको उतना मिल नहीं सकता। सबको सब उठा कर कोई नहीं दे सकता। थोड़ा-सा पा कर जो सन्तुष्ट हो जाते हैं वही लोग मित्र-मण्डली में जगह पाते हैं। बाकी लोग देखते रह जाते हैं और आशा लगाए बैठे रहते हैं। फलस्वरूप उनका पीडन, शोषण भी होता है। किन्तु कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बराबरी का दावा

करते है, मुकाबिले की हिम्मत करते हैं और यही शत्रु बन जाते हैं। जब धन पा कर ही कुछ मित्र बन सकते हैं तब तो धन दे कर शत्रुओं को भी मित्र बना लिया जा सकता है। मगर किस-किस को दिया जाए और कितना दिया जाए? फिर बचेगा ही क्या? इसी बात को श्लोक ५९ में कहा था कि कोई किसी को दे नहीं सकता और देगा भी तो बहुत थोड़ा ही देगा। इस थोड़े-से के लिए जो लार टपकाते हैं वह महान मूर्ख है। थोड़ा-सा पा कर दोस्ती का दम भरनेवाले ऐसे ही लोग होते हैं। शत्रुओं का गुट भी इसी श्रेणी में से बनता है और इसी भावना से प्रेरित हो कर शत्रुता पर तुल जाता है। उसे और भी अधिक ओछी प्रवृत्ति वाले साथी मिल जाते हैं। इस प्रकार हर पक्ष के मित्र भी हैं और शत्रु भी और दोनों का आराध्य देव वही धन या ऐसी ही कोई वस्तु है। फिर कोई मित्र कैसे? और शत्रु कैसे? जो मित्र बनते हैं, वह शत्रु बन जाते हैं। और वास्तव में भी शत्रु, शत्रु रहते हुए भी बहुत कुछ उपकार कर जाते हैं और मित्र मित्रता का व्यवहार करते हुए भी हानि पहुँचाते है। शत्रु के भय से या उसकी टीका टिप्पणि से हम अपने आप को मजबूत कर लेते और त्रुटियों को दूर कर लेते हैं और मित्रों के भरोसे पर निश्चित और बेपरवाह बन जाते हैं और उससे हम में दोष आ जाते है। जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब धन राशि पर बैठ जाना, शत्रुओं को कुचलना या मित्र-मण्डली बना लेना और कल्पान्त तक जीना, सब व्यर्थ है।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि न वह धन बटोरे, न शत्रु-मित्र बनाए और न बहुत जीने का लालच करे। केवल कर्तव्य की दृष्टि से सब कुछ करता रहे और अपने आप जो कुछ होवे उसे चुप चाप भोग ले और चलता बने। यही श्रेय का मार्ग है।

श्लोक ६८

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकारा:
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता
वैराग्यमस्ति किमत: परमर्थनीयम्।

पदच्छेद

भक्तिर्भवे = भक्तिः + भवे
वनान्ताः = वन + अन्ताः
वैराग्यमस्ति = वैराग्यम् + अस्ति
किमतः = किम् + अतः
परमर्थनीयम् = परम् + अर्थनीयम्

पदान्वय

भवे भक्तिः हृदिस्थम् मरण जन्म भयम्
बन्धुषु स्नेहः न, मन्मथजा विकाराः न
संसर्ग दोष रहिताः विजनाः वनान्ताः वैराग्यम् आस्ति
इतः परम् अर्थनीयम् किम्

शब्दार्थ

भवे भक्ति	=	ईश्वर में भक्ति हो, (और)	न	=	न हों
हृदिस्थम्	=	मन के भीतर	संसर्ग दोष रहिताः	=	संग दोष से बरी
मरण जन्म भयं	=	जीने मरने का भय हो,	वनान्ताः	=	बनों में रहें (तथा)
बन्धुषु	=	भाई बिरादर में	वैराग्यं अस्ति	=	वैराग्य होवे (तो)
स्नेहः न	=	मन न लगा हो	इतः परम्	=	इससे बढ़ कर
मन्मथजाः	=	काम वेग से पैदा होनेवाले (मनमें) दोष	अर्थनीयम्	=	चाहने योग्य
			किम्	=	क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं है।

भावार्थ

ईश्वर में भक्ति हो, जन्म मरण का भय हो, भाई बन्धुओं में आसक्ति न हो, मन के भीतर काम-वासना न हो, और इन सब की सिद्धि के लिए निर्जन बनों में वास करें। इस प्रकार जब मनुष्य को वैराग्य की सिद्धि होवे तब मनुष्य के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं रहेगी। मानो वह सब कुछ पा गया।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि प्रवृत्ति में सुख है ही नहीं। इसमें बताया गया है कि सच्चा सुख निवृत्ति में है। इसलिए वैराग्य को परम धन कहा गया है। इस वैराग्य की सिद्धि के कुछ साधन बताए हैं :—१. ईश्वर-भक्ति २. जन्म-मरण का भय। ३. बन्धुजनों से उदासीनता। ४. काम विकार का अभाव। ५. एकान्त सेवन। अब इन्हें एक-एक कर लें।

१. ईश्वर भक्ति का मतलब है ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में मन न लगाना। यदि मन किसी और जगह फंसे तो उसमें भी ईश्वर ही का प्रतिबिम्ब देखना।

२. जन्म-मरण का भय—मरण से तो सभी भयभीत रहते हैं, मगर वास्तव में जन्म से भी उतना ही भय खाना चाहिए। जन्म और मरण एक दूसरे के साथ लगे हुए हैं। इस आवागमन से छुटकारा पाने अर्थात् ईश्वर में लीन होने का नाम ही 'जन्म-मरण' के भय से मुक्त होना है।

३. बन्धुजनों से उदासीनता—जन्म के साथ मरना जरूरी है। मरते समय जिस किसी से प्रेम रहे उसी वासना की पूर्ति के लिए फिर जन्म लेना पड़ता है। जीवन भर सब से उदासीन रहें तभी मरते समय सांसारिक सम्बन्धों का विचार न होगा। ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति होने से ही अन्य पदार्थों से उदासीनता, और उदासीनता से ही आवागमन से छुटकारा सम्भव है।

४. काम विकार का अभाव—अर्थात् मन के भीतर भी व्यभिचार की भावना का न होना। केवल वेश्या-गमन ही व्यभिचार नहीं है। मन का ईश्वर से हट कर किसी अन्य वस्तु में लगना ही व्यभिचार है। इसी के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा में बिचारना।

५. एकान्त सेवन—ऊपर की चारों बातों के साधने के लिए एकान्त सेवन नितान्त आवश्यक है। एकान्त के माने लोगों से अलग रहना ही नहीं है, बल्कि मित्रों और शत्रुओं में अन्तर न करना, और यही वैराग्य है। जब मन की यह स्थिति हो गयी तब वह मनुष्यों के बीच में रहे या बन में जा कर रहे, कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि सब के साथ सब काम काम करते हुए सब के बीच में रहे और किसी से लगाव न रखे, यही असली वैराग्य है।

श्लोक ६९

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि
तद्ब्रह्म चिंतय किमेभिरसद्विकल्पैः
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य–
भोगादयः कृपणलोकमता भवान्ति ।

पदच्छेद

तस्मादनन्तमजरम् = तस्मात् + अनन्तम् + अजरम्
तद्ब्रह्म = तत् + ब्रह्म
किमेभिरसद्विकल्पैः = किम् + एभिः + असत् + विकल्पैः
यस्यानुषंगिणः = यस्य + अनुषंगिणः
भुवनाधिपत्य = भुवन + अधिपत्य
भोगादयः = भोग + आदयः

पदान्वय

तस्मात् कृपण लोकमता इमे भुवन अधिपत्य भोगादयः
यस्य अनुषंगिणः भवन्ति
तत् अनन्तम् अजरम् परमम् विकासि ब्रह्म चिंतय
एभिः असत् विकल्पैः किम्

शब्दार्थ

तस्मात्	=	इसलिए	अनुषंगिणः	=	साथ साथ चलने वाले,
कृपण लोक मता	=	नीचों द्वारा चाहे जाने वाले	भवन्ति	=	होते हैं
इमे	=	यह	तत्	=	उस
भुवन आधिपत्य	=	सांसारिक सत्ता के	अनन्तम्	=	अमर, जिसका कभी अंत न हो,
भोग आदयः	=	सुख आदि	अजरम्	=	अजर, जो कभी बूढ़ा न हो,
यस्य	=	जिसके			

परमम्	= श्रेष्ठ	एभिः	= इन
विकासि	= व्यापक	असत्	= झूठी
ब्रह्म	= ब्रह्म का	विकल्पौः	= इच्छाओं में
चिन्तय	= ध्यान कर ।	किम्	= क्या (धरा है)?

भावार्थ

इसलिए हे मन तू अजर, अमर, सर्वोत्कृष्ट सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा का मनन चिंतन कर। बाकी सब बेकार है।

विशेषार्थ

यह श्लोक 'तस्मात्' यानी–इसलिए के शब्द से शुरु होता है। इसलिए–किस लिए? पिछले श्लोक में जिन पांच बातों की चर्चा है उन की सिद्धि के लिए। परब्रह्म परमात्मा में अनन्य भक्ति ही सबमें प्रधान है। वह परब्रह्म कैसा है? और उसकी प्राप्ति से क्या लाभ है? वह अनंत है, यानी उसका कभी कहीं अंत नहीं होगा। सदा सर्वत्र विद्यमान रहेगा। जिसका अंत न हो उसका आदि भी नहीं हो सकता। जो कभी मरता नहो वह कभी पैदा भी नहीं होता। बुढ़ापा तो जन्म मरण के बीच की वस्तु है। इस तरह वह अजन्मा है, अजर है, अमर है। इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ हैं। यह हमारी पृथ्वी ही नहीं, स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, तीनों लोकों और इन तीनों के बीच के अन्य सभी लोकों में परमात्मा के सिवा ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो अजर अमर हो। अकेला परब्रह्म परमात्मा ही अजर अमर है, और वह इन सब में व्याप्त है

मान लिया जाए कि ईश्वर ऐसा ही है। तो उससे मनुष्य को क्या लाभ? क्यों नहीं? मनुष्य परमात्मा तो नहीं, किंतु परमात्मा से भिन्न भी नहीं है। मनुष्य में भी परमात्मा के से गुण पाये जाते हैं। मनुष्य अजर अमर तो नहीं है, किन्तु वह बुढापे को भी दूर रख सकता है, अपनी आयु भी बढ़ा सकता है। मानव संसार का सम्राट है ही, अब वह अन्य लोकों की भी खबर लेने लगा है। जिसका बीज हो उसका पेड भी बन सकता है। उस सर्वोत्कृष्ट, सर्व व्यापी परमात्मा के मनन चिंतन से मनुष्य में उन गुणों की वृद्धि हो सकती है। दूसरी ओर से भी देखें तो ईश्वर सर्वव्यापी है। इस लिए वह मनुष्य में भी है। अपने में खोजकर मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। तब मानव अनुभव करने लगेगा कि सारी सृष्टि में वह स्वयं व्याप्त है। कोई वस्तु उससे भिन्न

नहीं है। मनुष्य तब सबको अपने ही समान समझेगा। अपने में ईश्वरत्व पायेगा तो दूसरों में भी उसी का प्रतिबिम्ब देखेगा। इस समानता का भाव मनुष्य तक सीमित न रख कर पशु पक्षियों और पेड़ पहाडों को भी वही स्थान देगा। आदर्श समाज में मनुष्य मात्र को यह अधिकार दिया जाता हैं। किंतु मनुष्य से भी आगे बढ़कर सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का भी यही अधिकार मानना निश्चय ही ऊँची वस्तु है। थोडे बहुत रूप में साधारण मनुष्य भी यही करते हैं। किंतु वह थोडी मात्रा में करता है इसलिए वह मानव मालूम देता है। उन्ही बातों की मात्रा का बढ़ाना ईश्वरत्व की ओर पग बढ़ाना है। उसी भावना से शराबोर होना, उसी को जीवन धारा बनाना स्वयं ईश्वर बनना है। संसार का, सृष्टि का स्वामी बनना है। छोटी छोटी बातों की इच्छा करने वाला मानव क्या ऐसी ऊंची पदवी पसंद नहीं करेगा ?

श्लोक ७०

पातालमाविशसि यासि नभो विलंध्य
दिङमण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन
भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथमात्मनीनं
न ब्रह्म संस्मरसि निर्वृत्तिमेषि येन।

पदच्छेद

पातालमाविशसि = पातालम् + आविशसि
दिङमण्डलम् = दिक् + मण्डलम्
भ्रन्त्यापि = भ्रान्त्या + अपि
कथमात्म = कथम् + आत्म
निर्वृत्तिमेषि = निर्वृत्तिम् + एषि

पदान्वय

मानस चापलेन पातालम् आविशसि
नभो विलंध्य यासि दिक् मण्डलम् भ्रमसि
एन निवृत्तिम् एषि विमलम् आत्मनीनम्
ब्रह्म भ्रान्त्या अपि जातु न संस्मरसि

भावार्थ

मानस	= हे मन (तू)	एषि	= प्राप्त हो
चापलेन	= चपलता से	तत्	= उस
पातालम्	= पाताल में	विमलम्	= स्वच्छ
अविशसि	= पहुंच जाता है,	निर्मलम्	= निर्मल
नभः	= आकाश	आत्मानीनम्	= आत्मा को सुख देने वाले
बिलंध्य	= लांघ कर	अत्म लीनम्	= आत्मा में व्याप्त
यासि	= चला जाता है,	ब्रह्मम्	= पर ब्रह्म को
दिक् मण्डलम्	= चारों दिशाओं में	भ्रान्त्या अपि	= भूल से भी
भ्रमसि	= घूमता है, (किंतु)	जातु	= कभी
एन	= जिससे	न संस्मरसि	= नहीं याद करता
निर्वृत्तिम्	= मोक्ष को		

भावार्थ

चपलता के कारण मन सदा आकाश पाताल के कुलाबे मिलाया करता है और व्यर्थ के माया जाल में फंसा रहता है। भूल से भी यदि वह एक बार इस माया जाल से मुक्त होकर स्थिर चित्त हो ईश्वर का चिंतन करे तो निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त होवे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया है कि तीनों लोकों का आधिपत्य भी प्रकृति की चेरी मात्र है, जो बिना वुलाये पीछे पीछे घूमा करती है। इसमें कहता है कि उस परमानन्द की प्राप्ति के बाद इन भोगादि की इच्छा भी न होगी। मन

कहाँ तो चपलता से भिन्न भिन्न पदार्थों की प्राप्ति के लिए सदा असफल चेष्टा करता था, और कहाँ यह हाल है कि उनके लिए चेष्ट करना दूर रहा हथेली में आ जाने पर भी उनकी इच्छा नहीं करता। अंत में कहता है कि मन की स्थिरता ही सुख शान्ति का मूल है। सब जगह घूमना और सब काम करना, फिर भी असली वस्तु से वंचित रहना एक बात है और केवल एक काम करते हुए सब वस्तुओं को प्राप्त होना एकदम दूसरी बात है। आत्मानुभव के लिए पहली चीज को त्यागना कोई जरूरी नहीं है। हाँ, दूसरी चीज पहली के साथ अपने आप प्राप्त हो जाती है। फिर भी अपने को फंसा नहीं पाती। यही जीवन्मुक्ति है।

आकाश में उड़ने, पाताल में घुसने और धरती के चक्कर काटने की बात श्लोक में कही गयी है। दो हजार वर्ष पूर्व जब विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी, इस प्रकार विचारना कैसे सम्भव हुआ। विमानों में उड़ने और समुद्र मंथन की चर्चा, और ब्रह्माण्डों का वर्णन हमारे पुराणों में है। इसे कल्पना मात्र कहकर उड़ा देना ठीक नहीं जंचता। आज भी इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि केवल विज्ञान की उन्नति से समाज की सर्वतोमुखी उन्नति नहीं हो सकती। जब बीते हुए युग का विज्ञान आज के विज्ञान के सामने अज्ञान ही है, तब क्या आज का विज्ञान आने वाले युग के विज्ञान के सामने अज्ञान के समान होना सम्भव नहीं है? इसलिए हमें कहीं न कहीं आत्मा परमात्मा या सर्वात्मा का सहारा लेना पड़ता है।

सप्तम दशक का सारांश

श्लोक नं.–६१ सुख के लिए दूसरों को रिझाना व्यर्थ है।

–६२ केवल कर्तव्य कर्म किये जाओ। जो जैसा होना है वह वैसा ही होगा।

–६३ प्रेय का विसर्जन और श्रेय का अनुसरण करना चाहिए।

–६४ सांसारिक वैभव प्रेय है और आत्म–चिंतन श्रेय है।

–६५ पूर्णतया त्याग करें अथवा

—६६ पूर्णतया भोग करें

—६७ भोग द्वारा सुख की खोज भूल है ।

—६८ वैराग्य उत्तम है ।

—६९ आत्म साक्षात्कार के सामने संसार का सर्वस्व तुच्छ है ।

—७० मन की स्थिरता से परमात्मा का साक्षातकार होता है ।

इस प्रकार इस दशक में मन के नियमन तथा उस के महत्व की चर्चा करने के बाद अगले दशक में नित्य, अनित्य वस्तु पर विचार किया गया है ।

श्लोक ७१

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियविभ्रमैः
मुक्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषा वणिग्वृत्तयः ।

पदच्छेद

शास्त्रैर्महा = शास्त्रैः + महा
मुक्त्वैकम् = मुक्त्वा + एकम्
कालानलम् = काल +अनलम्
स्वात्मानन्द = स्व + आत्म + आनन्द
वणिग्वृत्तयः = वणिक् + वृत्तयः

पदान्वय

वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः महा विस्तरैः शास्त्रैः किम्
स्वर्ग ग्राम कुटी निवास फलदैः विभ्रमैः कर्म क्रिया किम्
भव दुख भार रचना विध्वंस काल अनलम्
स्व आत्म आनन्द पद प्रवेश कलनम् एकम् मुक्त्वा
शेषाः वणिक् वृत्तय ।

शब्दार्थ

वेदैः	=	ऋग्वेद आदि चारों वेदों से	विभ्रमैः	=	आडम्बर से भरे
स्मृतिभिः	=	मनुस्मृति आदि अठारह स्मृतियों से	कर्म क्रिया	=	स्नान, संध्या पूजा पाठ हवन आदि कर्मों से
पुराण पठनैः	=	ब्रह्माण्ड आदि अठारह पुराणों के अध्ययन से	भव	=	संसार के
			दुःख भार	=	दुखों से भरे
			रचना	=	निर्माण को
तथा	=	(और)	विध्वंस	=	विनष्ट करने में
महाविस्तरैः	=	बहुत बडे-बडे	काल अनलम्	=	प्रलयग्नि स्वरूप
शास्त्रैः	=	तर्क व्याकरणादि शास्त्रों से	स्व	=	अपने
			आत्म आनंदपद	=	आत्म-सुख के पद की
किम्	=	क्या (लाभ है) अर्थात् सब बेकार हैं,	प्रवेश कलनम	=	प्राप्ति देने वाले
स्वर्ग ग्राम	=	स्वर्ग के समान स्थान में	एकम् मुक्त्वा	=	(उस) अकेले को छोड
कुटी निवास	=	कुटी बना कर रहने (तथा)	शेषाः	=	बाकी सब
			वणिक्	=	बनिये के
फलदैः	=	पुण्य फल देनेवाले	वृत्तयः	=	कारोबार हैं।

शब्दार्थ

वेद शास्त्र तथा पुराणों के पठन पाठन से कोई लाभ नहीं है। सुन्दर बनों में कुटी रमा कर स्नान, संध्या, हवन आदि नियमित क्रियाओं के साथ कर्मकांडी बनने में भी विशेष लाभ नहीं है। इन सब की है। हैसियत बनिये के सौदे से बढ़कर कुछ नहीं है। इसलिए अंत में चलकर यह दुखदायी ही सिद्ध होते हैं। केवल आत्मानन्द ही जीव को जन्म मरणादि सांसारिक दुःखों से उबार सकता है।

विशेषार्थ

पिछले दशक में मन की स्थिरता पर कहने के बाद इस दशक में बताया गया है कि मनको उन्हीं बातों में स्थिर करना चाहिए जो स्थाई और शश्वत हों।

वेद शास्त्र से कोई लाभ नहीं, इस प्रकार कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म-काण्ड की विधि को जानने अथवा उसे विधिवत् करने में कोई लाभ नहीं है। कर्म-काण्ड को बनिए का व्यापार कहा गया है। व्यापार क्या है ? बेचने और खरीदने वाले के बीच एक चीज़ देकर बदले में दूसरी चीज लेना सौदा या व्यापार है। सौदा पैसे से पटता है। ग्राहक चाहता है कि उसे कम से कम दाम देने पड़े और अधिक से अधिक माल मिले। बेचने वाला ठीक उल्टे सोचता है। उसकी नीयत होती है कि कम से कम माल दे और अधिक से अधिक दाम वसूल करे। इस प्रकार दोनों अपना-अपना नफ़ा चाहते हैं। या यों कहिए कि दोनों एक दूसरे को नुकसान पहुँचाना चाहते हैं अथवा एक दूसरे को ठगने की नीयत रखते हैं। इसी का नाम सौदा या व्यापार है। शास्त्रों का पढ़ना और उनके अनुसार धार्मिक कृत्य करना भी इसी सौदे के समान है। थोड़ी-सी संध्या, पूजा या यज्ञ, हवन करके उसके बदले में मनुष्य स्वर्ग के सुख को भोगना चाहता है। वेद शास्त्र ही नहीं, बाकी सभी कार्यों को सौदा कहा गया है। बाकी में चोरी, व्यभिचार आदि कुकर्मों से अभिप्राय नहीं है। यहाँ पर सुकर्मों की ओर ही उसका संकेत है। उन सुकर्मों में जो सबसे श्रेष्ठ हैं, उन वेद शास्त्रों और यज्ञ हवन तक को जब सौदा यानी ठग-विद्या कहा गया है, तब उनसे निचली कोटि के राज-पाट, व्यापार, धंधा आदि सब कार्य उसमें आ ही जाते हैं। फिर बुरे काम तो बुरे ही हैं।

एक आत्मानन्द ही इस बुराई से बरी है और उससे सब दुःखों का अन्त हो जाता है। अर्थात् शास्त्रोक्त यज्ञ आदि से स्वर्ग की प्राप्ति भले ही हो, किन्तु उससे दुःखों का एकांत निवारण नहीं हो सकता। (स्वर्ग सुख के सम्बन्ध में पीछे कहा जा चुका है।) निष्कर्ष यह निकला कि बाहरी क्रिया-कलाप, चाहे वह शास्त्रोक्त धार्मिक कृत्य ही क्यों न हों, निरर्थक हैं। इसके विपरीत यह बाहरी उपकरण न होने पर भी आत्म-चिंतन ही आनंद दायक है। बाहरी आडम्बर नहीं, बल्कि भीतरी भावना की ही महत्ता है। श्लोक में इससे आगे भी कहा गया है। स्वर्गीय सुख भी अस्थाई हैं, थोड़े दिनों के लिए हैं। इसलिए स्वर्ग से दुःख का अन्त नहीं हो सकता। पुण्य के क्षीण होने पर फिर जन्म लेना पड़ता है। इसके विपरीत आत्मा अमर है, इसलिए उसका आनन्द भी अनंत है।

श्लोक ७२

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राश्शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः
धरागच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले।

पदच्छेद

श्रीमान्निपतति = श्रीमान् + निपतति
युगान्ताग्नि = युग + अन्त + अग्नि
समुद्राश्शुष्यन्ति = समुद्राः + शुष्यन्ति
गच्छत्यन्तम् = गच्छति + अंतम्
पादैरपि = पादैः + अपि
कर्णाग्र = कर्ण + अग्र

पदान्वय

यतः श्रीमान् मेरुः युगान्त अग्नि वलितः निपतति प्रचुर मकर ग्राह निलयाः समुद्राः शुष्यन्ति धरणिधर पादैः धृता धरा अपि अन्तम् गच्छति करि कलभ कर्ण अग्र चपले शरीरे का वार्ता

शब्दार्थ

यतः	= जिस कारण	निपतति	= गिर पड़ता है, भस्म हो जाता है,
श्रीमान्	= सम्पन्न, सोने, जवाहरात से भरा	प्रचुर	= बहुत सारे
मेरुः	= सुमेरु पर्वत	मकर	= मगर
युगान्त	= प्रलय काल की	ग्राह	= घड़ियालों के
अग्नि	= आग से	निलयाः	= वास या ठिकाने वाले
वलितः	= घिर कर		

समुद्राः	=	समुद्र (सब)	ततः	=	उस कारण
शुष्यन्ति	=	सूख जाते हैं	करि कलभ	=	हाथी के बच्चे के
धरणीधर	=	पहाडों के	कर्ण अग्र	=	कान की नोक (की तरह)
पादैः	=	पावों से			
धृता	=	धरी हुई (दबाई हुई)	चपले	=	अस्थिर
			शरीरे	=	शरीर के बारे में
धरणि अपि	=	धरती भी	का वार्ता	=	क्या बात है। अर्थात् उसकी कोई गिनती नहीं।
अन्तं गच्छति	=	अंत हो जाती है (नष्ट हो जाती है)			

भावार्थ

ईश्वर की सृष्टि में सबसे उच्च सुमेरु पर्वत भी प्रलयानल से गल कर पानी हो जाता है। बडे बडे गहरे समुद्र भी सूख जाते हैं। हिमालय के समान महान पर्वतों और पृथ्वी और समुद्र जैसे स्थाई वस्तुओं की यह दशा है तब मनुष्य का शरीर किस गिनती में है, जो सदा हाथी के बच्चे के कान के समान डोलायमान रहता है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि मरने के बाद स्वर्ग आदि मे दुख का अंत नहीं हो सकता। इसमें बताया है कि जीवन काल में भी सुख नहीं है। इसे सिद्ध करने के लिए तीन दृष्टान्त दिये हैं। १– सुमेरु पर्वत २– समुद्र ३– पृथ्वी। तीनों दृष्टान्तों के अलग अलग अभिप्राय हैं। सुमेरु के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह संसार में सबसे वड़ा पर्वत है और सारे के सारा सोने का बना हुआ है। सुमेरु स्वयं सम्पन्न है किंतु उससे किसी को कोई लाभ नहीं है। दूसरा समुद्र है जो एकदम अथाह है और अपार है और खारा है। फिर भी सुमेरु के समान दूसरों के लिए निरंथक न होकर समुद्र मगर मछली आदि जल-जन्तुओं को अपने पेट के भीतर स्थान देता है। तीसरी पृथ्वी है। कहा जाता है और वैसे देखने में भी जान पडता है कि छोटे बटे पहाडों ने पृथ्वी को बांध कर स्थिर कर रखा है। यह उबड खाबड धरती ही जीव जगत के लिए सव से अधिक लाभ दायक है। अर्थात् जो जितना अधिक सम्पन्न वह उतना ही अधिक नीरस और कृपण। फिर भी सुमेरु के समान स्वयं तृप्त, समुद्र के समान परहित

साधक तथा पृथ्वी के समान साधन सम्पन्न, यह सब भले ही बहुत दिनों तक बने रहें तब भी प्रलय काल में तो विनष्ट हो ही जावेंगे। इनके सामने मनुष्य-शरीर किसी गणना में ही नहीं है। जब सुमेरु जैसे अचल वस्तु का ठिकाना नहीं तब हमेशा हिलने वाला हाथी का कान कैसे टिक पायेगा उस दिन।

श्लोक ७३

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिः
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रम् च लालायते
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्य्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते।

पदच्छेद

गतिर्विगलिता = गतिः + विगलिता
दन्तावलिः = दंत + आवलिः
दृष्टिर्नश्यति = दृष्टिः + नश्यति
नाद्रियते = न + आद्रियते
पुत्रोऽप्यमित्रायते = पुत्रः + अपि + अमित्रायते

पदान्वय

जीर्ण वयसः पुरुषस्य हा कष्टम्, गात्रम् संकुचितम्
गतिः विगलिता च दंतावलिः भ्रष्टा दृष्टिः नश्यति
बधिरता वर्धते च वक्त्रम् लालायते, बान्धव जनः
वाक्यम् न आद्रियते
भार्या च न शुश्रूषते, पुत्रः अपि अमित्रायते

शब्दार्थ

जीर्ण वयसः	= ढल गयी आयु वाले बूढे	बधिरता वर्द्धते	= बहरापन बढ़ जाता है,
पुरुषस्य	= पुरुष को	वक्त्रम् च	= मुंह भी
हा कष्टम्	= बड़ा कष्ट, दुख होता है,	लालायते	= लार छोडने लगता है,
गात्रम् संकुचितम्	= शरीर सिकुड़ जाता है,	बान्धव जनः	= भाई बन्धु
		वाक्यम्	= बात का
गतिः विगलिता	= चाल ढीली पड़-जाती है	न आद्रियते	= आदर नहीं करते
		च	= और
च	= और	भार्या	= स्त्री
दंतावलिः भ्रष्टा	= दांत गिर जाते हैं,	न शुश्रूषते	= सेवा नहीं करती,
दृष्टिः नश्यति	= नज़र जाती रहती है,	पुत्रः अपि	= पुत्र भी
		अमित्रायते	= बैरी बन जाते हैं।

भावार्थ

शरीर पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। पग डगमगाते हैं। दांत झड़ पड़ते हैं। नजर धीमी पड़ जाती है। बहरापन बढ़ जाता है। मुंह लार छोड़ने लगता है। भाई बन्धु बात नहीं सुनते। स्त्री सेवा नहीं करती। बेटे बैरी बन जाते हैं। ऐसी दुर्दशा होती है बुढ़ापे में।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में शरीर की अस्थिरता दिखाई थी। समें और अगले श्लोक में भी यही बताया गया है। इसलिए इसे अगले श्लोक के साथ मिलाकर पढ़ लें।

श्लोक ७४

वर्णं सितं शिरसि वीक्ष्य शिरोरुहाणां
स्थानं जरापरिभवस्य तथा पुमांसम्
आरोपितास्थिशकलम् परिहृत्य यांति
चण्डालकूपमिव दूरतरं तरुण्यः ।

पदच्छेद

आरोपितास्थि = आरोपपित + अस्थि
कूपमिव = कूपम् + इव

पदान्वय

शिरसि शिरोरुहणाम् सितम् वर्णम् वीक्ष्य
जरा परिभवस्य स्थानम् पुमांसम्
आरोपित अस्थि शकलम् चण्डाल कूपम् इव
तरुण्यः दूरतरम् परिहृत्य यान्ति

शब्दार्थ

शिरसि	= सिर में	मत्वा	= समझ कर
शिरोरुहाणाम्	= (सिर के) बालों का	आरोपित	= लगाए रखे
सितम् वर्णम्	= सफेद रंग	अस्थि शकलम्	= हड्डी के टुकडेवाले
वीक्ष्य	= देख	चाण्डाल-कपम् इव	= चमारों के कुँए के समान
तथा	= तब (और)	तरुण्यः	= युवतियाँ
पुमांसम्	= पुरुष को	दूर तरम्	= दूर ही
जरा	= बुढ़ापे से	परिहृत्य	= छोड़ कर
परिभवस्य स्थानम्	= अपमान के योग्य	यान्ति	= निकल जाती हैं

भावार्थ

बाल पकने पर पुरुष को बूढ़ा जान कर युवतियाँ उससे ठीक वैसे ही भागती हैं जैसे हाड़ बाँधे चमरौटी के कुएं से सवर्ण हिन्दू भागते हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि खुद भाई-बन्धु और बाल-बच्चे बूढ़ों से घृणा करने लगते हैं। ऐसे नजदीकी लोगों के घृणा करने का क्या कारण हो सकता है, यह बात इस श्लोक पर ध्यान देने से समझ में आ सकती है। पुरुष के बूढ़े होने पर जवान लड़कियाँ घृणा करती हैं, क्योंकि उनके लिए आकर्षण की वस्तु जवानी थी, जो अब नहीं रही। स्त्रियों के प्रेम में केवल पुरुषों का विलास ही नहीं, बल्कि स्त्रियों का स्वार्थ भी छिपा हुआ है। इसी प्रकार भाई-बन्धु और बाल-बच्चों के प्रेम में भी उनका निजी स्वार्थ ही मूल कारण है। जब मनुष्य कमाने-धमाने के लायक नहीं रहा, तब उसकी सन्तान भी उसे भार स्वरूप समझने लगती है।

आजकल समाज के अन्दर परिवार रूपी प्रासाद की नींव पैसे पर ही टिकी हुई है। समाज में जब पैसे का चलन ही न था, जायदाद नहीं थी, तब परिवार भी नहीं था। कम से कम आज का जैसा परिवार नहीं था। जब से सम्पत्ति या जायदाद आयी तभी से परिवार का भी प्रादुर्भाव हुआ। और ज्यों-ज्यों सम्पत्ति का रूप बदलता आया है त्यों-त्यों परिवार का रूप भी बदला किया है। आगे भी ऐसा ही होगा। जब निजी जायदाद जैसी कोई चीज़ नहीं रहेगी, तब परिवार भी नहीं रहेगा। सारी जायदादों का समाजीकरण हो जाएगा, तो सारा समाज ही परिवार हो जाएगा। और तब 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली आर्योक्ति चरितार्थ हो जाएगी।

हिन्दू-धर्म में परिवार और जायदाद का रूप मिटाने की अपेक्षा उन दोनों की समुचित सेवा करते हुए अन्त में व्यक्ति के लिए उन से नाता तोड़ कर संसार को ही अपना परिवार मानने की व्यवस्था है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम का उद्देश्य यही हो सकता है। इस व्यवस्था में दो लाभ दिखायी पड़ते हैं। एक तो यह कि जब तक मानव समाज है, तब तक एक न एक रूप में जायदाद रहेगी और उसका कोई न कोई प्रबन्धक भी रहेगा और होना जरूरी भी है। सम्पत्ति का उपयोग समाज के लिए होना ही चाहिए। सम्पत्ति की सामूहिक व्यवस्था या समाजीकरण की अपेक्षा उसे टुकड़ियों में बाँट कर योग्य व्यक्तियों को सौंपने का आयोजन किया गया गया है। पारिवारिक व्यवस्था से यह बात सिद्ध होती है। दूसरी बात, किसी परिवार के कर्ता-धर्ता का क्या कर्तव्य है? उस कर्तव्य का यथाविधि पालन कहाँ तक होता है, इसी पर समाज की सुव्यवस्था

निर्भर करती है। परिवार के कर्णधार का सिवाय सेवा के और कोई धर्म नहीं हो सकता बाल-बच्चों को पाले-पोषे सेवा की नीयत से। भाई बिरादर की सहायता करे सेवा के ही विचार से। जब तक सेवा करने की योग्यता रहे दिल से सेवा करे। नहीं तो दूसरे के लिए जगह खाली कर दे। शरीर में बल पौरुष शेष रहे तब भी दूसरे के लिए जगह छोड़ ही देनी चाहिए। आप में योग्यता न रहे अथवा दूसरों के उस योग्य होने के बाद भी जायदाद और परिवार की चौधराई से चिपके रहने का परिणाम वही होगा जो श्लोक में कहा गया है: बेटे भी बैरी बनेंगे ही। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों की व्यवस्था इसीलिए है। इससे परिवार के साथ जो झूठा मोह है और जो केवल एक साथ रहने के कारण पैदा हो जाता है, वह भी दूर हो जाएगा।

सम्पूर्ण आश्रमों का पालन न करें और हिन्दू-धर्म की ध्वजा उठाए रहें, यह निरा ढकोसला है। बुढ़ापे में सेवा कौन करेगा, इसके लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। उनकी यथोचित सेवा करना सभी गृहस्थियों का धर्म है। पिछले श्लोक में कहा जा चुका है कि इसी गृहस्थाश्रम पर शेष सब आश्रम निर्भर करते हैं। सच है कि इन आश्रम धर्मों का पालन आजकल हो ही नहीं रहा है। किन्तु आश्चर्य है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी नहीं होता था। इस पर कभी अमल भी हुआ है, इसमें सन्देह ही है। तब क्या यह आश्रम-धर्म केवल शास्त्रों तक ही सीमित रहे? विद्वान कहलाने वाले क्या यों ही वर्णाश्रमों की दुहाई देते रहेंगे? हिन्दुओं को एक बार तय कर लेना चाहिए कि या तो आश्रम व्यवस्था को एक बार पूर्णरूपेण पालन कर देखेंगे और संसार को दिखा देंगे कि हमारी सामाजिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ट है, या संसार में जो सुन्दर व्यवस्था हो उसे अपना लेंगे। अपने वाले पर अमल न करें और दूसरों का भी अपनावें नहीं, अब यह अधिक दिन चल न सकेगा।

अब चमरौटी के कुएँ तथा बुढ़ापे के सम्बन्ध में भी थोड़ा-सा विचार कर लें। जो लोग प्राचीन भारत के गुण गाते नहीं अघाते, उनको इन दोनों श्लोकों पर ध्यान देना चाहिए। बुढ़ापे में बीवी, बच्चे भी घृणा करने लगते हैं। आजकल के बदनाम कलियुग में ही नहीं, आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व के देव-काल में भी यही होता था। तब भी चमारों और दूसरे ऐसे ही अंत्यज कहलाने वालों को समाज से दूर-दूर रखा जाता था। कुएँ से पानी भी लेने नहीं दिया जाता था। उनको अपना कुँआ अलग कहीं दूर बनाना पड़ता था। सवर्ण हिन्दुओं का उस कुएँ से पानी भरना तो दूर रहा, वे उस कुएँ के पास

फटकना भी पाप समझते थे । ऐसा न हो कि कहीं कोई भूला-भटका उस कुएँ के पास से हो निकले, निशानी के लिए कुएँ पर हाड़ बाँध दिया जाता था। इतनी दुर्दशा थी हिन्दू-धर्म की—उस हिन्दू धर्म की जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह सनातन-धर्म है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है और सदा रहेगा। हिन्दू-धर्म की यह दुर्दशा तब थी, जब दूसरों के सिर पर दोष मढ़ने के लिए हिन्दुस्तान में मुसलमान या ईसाई नहीं थे। जिस समाज में अपने ही एक अंग के साथ ऐसा अत्याचार किया जाता हो, वहाँ पर करोड़ों भाई अन्य धर्मावलम्बी हो जाएं तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात थी ? बल्कि आश्चर्य तो इस पर हो सकता है कि तब भी इतने अछूत हिन्दुत्व के पैरों तले रौंदा जाना क्यों पसन्द किये हुए हैं ? यह हुआ प्रश्न का एक पक्ष ।

दूसरा पक्ष भी कम घृणास्पद नहीं है। चमरौटी-कुएँ के निशान के लिए हाड़ बाँध दिया जाता था। हाड़ ही क्यों ? कोई और चिन्ह क्यों नहीं लगाते थे ? यह इस बात को दिखाना है कि चमार आदि की समाज में ऐसी दशा क्यों हुई। वे मरे ढोरों का माँस खाते थे, गंदे रहते थे। इसीलिए समाज ने उनका बहिष्कार किया। इनका बहिष्कार क्यों किया गया, इसे याद दिलाने के लिए मरे ढोर की हड्डी उनके कुएँ पर बाँध दी गयी। इसीलिए हमारे समाज में एक ओर सवर्ण हिन्दुओं को अपना अत्याचार छोड़ना है तो दूसरी ओर अछूतों को मरे ढोर खाने, जूठा खाने, पाखाने को पेशा बनाने आदि गंदी आदतों को भी छोडना है। इसके लिए आर्थिक उन्नति के साथ साथ मानसिक परिवर्तन भी जरूरी है।

अब बुढ़ापे की बात लें। जिस प्रकार अछूतोद्धार में मानसिक परिवर्तन जरूरी है उसी प्रकार बुढापे में अपना मान बनाये रखने की मनोवृत्ति को भी ठीक करने की जरूरत है।

बुढ़ापे का मानसिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसा होना नहीं चाहिए। बूढे और बच्चे की स्थिति एक सी होती है— दोनों के दांत नहीं होते, दोनों दूसरों के मुहताज होते हैं, इत्यादि। किंतु बच्चा सदा प्रसन्न रहता है और बुड्ढा सदा दुखी। यह ठीक नहीं है। यदि बुड्ढा भी अपने में बचपन के भाव पैदा कर ले तो हंसी खुशी में दिन कट जाएँ। संसार की चिंता छोड़ दे, घर गृहस्थी की फिक्र न करे, मान अपमान पर ध्यान न दे, खूब खावे, पीवे और मौज करे। बुड्ढे भी बच्चों के साथ खेलें, कूदें, और किल्लोल करें। ऐसे

बुड्ढों को तो बच्चे क्या, जवान लड़के, लड़कियाँ, सभी घेरे रहते हैं। दोनों का ही मनोरंजन होता है। फिर भी कुछ करना ही चाहें तो एकान्त में बैठे, राम राम करें।

श्लोक ७५

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।

पदच्छेद

यावत्स्वस्थमिदम् = यावत् + स्वस्थम् + इदम्
शरीरमरुजम् = शरीनम् + अरुजम्
यावज्जरा = यावत् + जरा
यावच्चेंद्रिय = यावत् + च + इन्द्रिय
शक्तिरप्रतिहता = शक्तिः + अप्रतिहता
नायुषः = न + आयुषः
तावदेव = तावत् + एव
प्रत्युद्यमः = प्रति + उद्यमः

पदान्वय

यावत् इदम् शरीरम् स्वस्थम् अरुजम् यावत् जरा दूरतः
यावत् च इन्द्रिय शक्तिः अप्रतिहता यावत् आयुषः न क्षयः
तावत् एव विदुषा आत्म श्रेयसि महान यत्नः कार्यः
भवने संदीप्ते तु कूप खननम् प्रति उद्यमः कीदृशः

शब्दार्थ

यावत्	= जब तक	तावत् एव	= तभी तक
इदम् शरीरम्	= यह शरीर	विदुषा	= विद्वानों द्वारा
स्वस्थं	= स्वस्थ हो (और)	आत्म श्रेयसि	= आत्मा के कल्याण के लिए
अरुजम्	= नीरोग हो,		
यावत्	= जब तक	महान् प्रयत्नः	= घोर उद्योग
जरा	= बुढ़ापा	कार्यः	= किया जाना चाहिए, (नहीं तो)
दूरतः	= दूर रहे		
यावत् च	= और जब तक	भवने	= घर के
इंद्रिय शक्ति	= आंख कान आदि इन्द्रियों का बल	संदीप्तेषु तु	= जल उठने पर तो
		कूप खननम् प्रति	= कुंआ खोदने के लिए
अप्रतिहता	= न टूटे		
यावत्	= जब तक	उद्यमः	= प्रयत्न करना
आयुषः	= उम्र	कीदृशः	= कैसा ? किस काम का ?
न क्षयः	= न ढले		

भावार्थ

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि शरीर के शिथिल होने, इन्द्रियों के ढीले पड़ने, बुढ़ापे के आ घेरने, और जवानी के ढल जाने से पहले ही परिश्रम करके आत्म-कल्याण की साधना करे। नहीं तो सब कुछ बीत जाने पर मृत्यु के दरवाजे मुक्ति की चेष्टा करना ऐसा ही है जैसे घर के जल उठने पर कुंआ खोदने का उपाय करना।

विशेषार्थ

पिछले दोनों श्लोकों में क्रमशः बुढ़ापे के कष्टों पर चिंता प्रकट की गयी थी। इस श्लोक में उन कष्टों के निवारण का उपाय बताया गया है। यह सिद्ध किया गया है कि कारण तथा निवारण एक ही वस्तु में निहित हैं। जवानी के दिनों को इन्द्रिय लोलुपता में गंवाने पर वह कष्टों का कारण बन जाता है, और उसी जवानी के दिनों को किसी कल्याणकारी काम में लगा देने से कष्टों का निवारण हो जाता है। यहाँ पर इस भ्रम को भी दूर करने की चेष्टा की

गयी है कि केवल मुंह से 'राम, राम' कहने से काम नहीं चलेगा। सो वह भी होता नहीं। मन से उसका चिंतन करना और भी कठिन है।

श्लोक में कहा गया है कि बूढे होकर अंधे बहरे बनने से पहले ही कल्याण की साधना सम्भव है, अर्थात् साधना में भी आंख कान तथा शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है। उसके लिए घोर परिश्रम करना पडेगा। आँखों से उसी के अनुकूल वस्तुएँ देखें, कानों से उसी की चर्चा सुनें, ऐसे वातावरणमें रहें जो साधना में हर प्रकार से सहायक हो। जीवन भर जिन बातों का अभ्यास रहता है, अंत में भी वही बातें बनी रहती हैं। किसी का अंत कब है, यह कोई नहीं जानता। इसीलिए. जीवन भर सदा उसी का ध्यान रखना चाहिए। इसके विपरीत यदि चोरी–चमारी में जवानी काट डालें तब बुढापे में भी वही चीजें सामने रहेंगी। किंतु शारीरिक असमर्थता के कारण उनका उपभोग नहीं हो सकेगा। इस कारण मानसिक वेदना होगी, पश्चात्ताप होगा। जो मनुष्य अंतिम समय में छुटकारे के लिए छटपटाता है और अपने किये पर पछताता है। उसकी दशा उस प्यासे की सी होगी जो प्यास के सताने पर कुआं खोदने खड़ा हो जाता है। कुआं खुदने से पहले ही उसकी जीभ बाहर निकल पडेगी और वही कुंआ उसकी कब्र बन जाएगी।

श्लोक ७६

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीम्
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम्
पिबामः शास्त्रौधानुत विविधकाव्यामृतरसान्
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने।

पदच्छेद

किमधिनिवसामः = किम् + अधिनिवसामः
गुणोदारान् = गुणाः + उदारान्
दारानुत = दारान् + उत
शास्त्रौधानुत = शास्त्र + ओधान् + उत
काव्यामृत = काव्य + अमृत
निमेपायुषि = निमेष + आयुषि

पदान्वय

तपस्यन्नः सन्तः सुरनदीम् अधिनिवसामः किम् सविनयम् गुणाः उदारान् दारान् उत परिचरामः किम् शास्त्रौधान् उत विविध काव्य अमृत रसान् पिबामः किम् जने कतिपय निमेपा आयुपि किम् कुर्मः न विद्मः

शब्दार्थ

तपस्यन्तः सन्तः	=	तपस्या करते हुए	उत	=	अथवा
सुर नदीम्	=	देवनदी गंगा जी के (तट पर)	विविध काव्य	=	भिन्न भिन्न काव्यों के
अधिनिवसामः किम	=	क्या बास करें	अमृत रसान्	=	अमृत समान रस को
उत	=	और	पिबामः किम्	=	पान क्या करें ?
सविनयम्	=	नम्रता के साथ	जने	=	मनुष्य
गुण उदारान्	=	रूप लावण्य आदि उदार गुणों वाली	कतिपय	=	थोडे से
दारान्	=	स्त्रियों की	निमेषा	=	क्षण के
परिचरामः	=	सेवा संगत क्या करें ?	आयुषि	=	जीवन में
			किम् कुर्मः	=	क्या क्या करें ?
शास्त्र ओधान्	=	समस्त शास्त्रों	न विद्मः	=	नहीं जान पाते

भावार्थ

गंगा किनारे तपस्या करें ? सुशील स्त्री के संग संसार भोगें ? समस्त शास्त्रों का मंथन करें ? मधुर काव्यों का रसास्वादन करें ?

इस क्षणिक जीवन में क्या क्या करें ? जीवन थोड़ा है, इच्छाएं बहुत हैं और भारी हैं ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि जो कुछ करना हो जवानी में ही कर डाले । इस श्लोक में उस पर शंका उठायी गयी है कि दिन थोडे हैं और काम बहुत हैं । गंगा तट पर कुटी रमाना भी अच्छा काम है और बाल बच्चों के साथ गृहस्थी चलाना भी अच्छा काम है । इसी प्रकार पठन पाठन भी अच्छी वस्तु है । मनुष्य के लिए इन सब की विधि बताई गयी है और किसी को बुरा नहीं कहा गया । तब मनुष्य चक्कर में पड़ जाता है कि क्या करे और क्या न करे । अगर तपस्या किया तो तीर्थ यात्रा रह जाती है । पढ़ने में लगे रहें तो गृहस्थी नहीं चलती । गृहस्थ धर्म का पालन विधि पूर्वक नहीं हुआ तो नरक यातना है । वास्तव में इस श्लोक में फबती कसी गयी है कि करोगे तो क्या क्या करोगे ! यही जताने की चेष्टा की गयी है कि यह सब झोल है, मगर इस संसार में किसी न किसी तरह मतलब साधने के धुन में रहना पडता है ।

इस का अर्थ यों भी किया जा सकता है । निर्जन वन में आत्म चिंतन करना, विद्वान मंडली में काव्य रसास्वादन करना और अपनी अर्धांगिनी के साथ जीवन सुख भोगना, तीनों में समान आनंद मिलता है और तीनों मुक्तिदायक हैं। किंतु मूर्ख जन चारों ओर हाथ मार कर सब में अधूरे रह जाते हैं और त्रिशंकु वन कर अधर अटके रहते हैं. और हाथ मलते रह जाते हैं ।

श्लोक ७७

दुराराध्याश्चामी तुरगचलचित्ताः क्षितिभुजो
वयं तु स्थूलेच्छाः सुमहति फले बद्धमनसः
जरा देहं मृत्युर्हरति दयितं जीवितमिदं
सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोऽन्यत्र तपसः ।

पदच्छेद

दुराराध्याश्चामी = दुः + आराध्याः + च + अमी
स्थूलेच्छा = स्थूल + इच्छा
मृत्युर्हरति = मृत्युः + हरति
जीवितमिदम् = जीवितम् + इदम्
नान्यच्छ्रेयः = न + अन्यः + श्रेयः
विदुषोऽन्यत्र = विदुषाः + अन्यत्र

पदान्वय

तुरग चल चित्ताः अमी क्षित भुजः दुः आराध्यः
वयम् तु स्थूल इच्धाः सुमहति फले बद्ध मनसः
जरा देहम् मृत्युः इदम् दयितम् जीवितम् हरति
सखे जगति विदुषः तपसः अन्यत्र न श्रेयः

शब्दार्थ

तुरग चल चित्ताः	= घोडे के समान चंचल चित्त वाले	देहम्	= शरीर को (और)
		मृत्युः	= मौत
अमी	= यह	इदम्	= इस
क्षिति भुजः	= राजा लोग	दयितम्	= प्यारी
दुः आराध्याः	= कठिनता से प्रसन्न किये जा सकते हैं,	जीवितम्	= जीवन को
		हरति	= हरती है,
वयम् तु	= हम तो	सखे	= हे मित्र !
स्थूल इच्छा	= लम्बी चौडी इच्छा रखने वाले हैं	जगति	= संसार में
		विदुषाः	= विद्वान या समझदार के लिए
सुमहति	= बहुत भारी		
फले	= फल में	तपसः अन्यत्र	= तपस्या के सिवा
बद्ध मनसः	= बँधे हुए मन वाले हैं, मनमें भारी लालसाएं हैं,	अन्यत् श्रेयः	= दूसरो कोई कल्याण का साधन
		न	= नहीं है
जरा	= बुढ़ापा		

भावार्थ

राजाओं और धनियों का मन घोडे के समान चंचल होता है। पता नहीं उन्हें किस समय कौन बात भली लगे और कौन बुरी। इसलिए उन्हें प्रसन्न रखना कठिन है। इधर हम हैं कि भारी भारी लालसायें लिए हैठे हैं। इन लालसाओं के पूरे होने के लिए पर्याप्त समय भी नहीं है। एक ओर बुढ़ापे के कारण शरीर में शिथिलता आ रही है और दूसरी ओर मौत निकट पहुंच रही है। इसलिए बुद्धिमानी इसी मे है कि सब लालसाओं को छोड़ कर केवल परमात्मा का शरण लें और इसी में कल्याण है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की फबती बेकर है। इसके दो कारण हैं। एक तो आजकल संसार में सारे काम राजा धनियों के अधीन हैं या अधिकार में हैं। उनकी प्रसन्नता में ही कुछ काम बनने की आशा की जा सकती है। यदि निश्चित हो कि बाबू जी अमुक बात से खुश रहते हैं तो किसी तरह से उसे करने की कोशिश की जाय। मगर उसका कोई ठिकाना नहीं कि उन्हें कब कौन सी बात भली लगे और कब बुरी। ऐसी दशा में सच्चे दिल से प्रयत्न करने पर भी वह नाराज होकते हैं। परवाह नहीं, एक बार नाराज हो जाय। फिर कोशिश करेंगे, ऐसा समझने की भी गुंजायश नहीं है। एक में खुश हों तो दूसरे में नाराज हो जावेंगे। हम भी तो कुछ आनंद उठाने के लिए ही यह सब कुछ करते हैं। यदि हमारे लिए मौज उडाने के दिन ही न रहें, जवानी जाती रही, बूढे हो गये, दांत झड़ गये, आख कान जवाब दे गये। तब क्या खाक मौज उड़ावेंगे। न उन्हें प्रसन्न ही किया जा सकेगा और न हम आनंद ही उठा सकेंगे। जब एक आध इच्छा का यह नतीजा हो रहा है तब सैंकडों लालसाओं की क्या दशा होगी? इसलिए इस चक्कर में पडना ही व्यर्थ है। फिर करना क्या चाहिए? बीसियों बातों में से किसे अपनावें और किसे छोड़ दें। सभी तो अच्छे हैं। इस शंका का भी माकूल जवाब दिया गया है। बीस नहीं एक केवल एक तपस्या से ही सिद्धि मिल सकती है। मन को स्थिर रखना और शरीरिक सुख की इच्छा न करना, यही तपस्या है। यदि यह दोनों बातें न हों तो बभूति रमाने के बाद भी वह तपस्या नहीं है और यदि गृहस्थी भी तपस्या कहाने गोग्य है तो बालबच्चों के बीच में रहना भी साधना ही है।

श्लोक ७८

मानें म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थे प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने
युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः
पूतग्रावगिरीन्द्रकन्दरतटीकुञ्जे निवासः क्वचित् ।

पदच्छेद

प्रयातेर्थिऽनि = प्रयाते + अर्थिनि
शनैर्योवने = शनैः + यौवने
केवलमेतदेव = केवलम् + एतत् + एव
यज्जह्नुकन्या = यत् + जह्नुकन्या
गिरीन्द्र = गिरि + इन्द्र

पदान्वय

मानें म्लायिनि वसुनि खण्डिते च अर्थिनि व्यर्थे प्रयाते
बन्धुजने क्षीणे परिजने गते यौवने शनैः शनैः नष्टे
जह्नुकन्या पयःपूत गिरीन्द्र ग्राव कन्दर तटी
क्वचित् कुञ्जे निवासः एतत् एव सुधियाम् केवलम् युक्तम्

शब्दार्थ

मान म्लायिनि	=	सम्मान धूल में मिलने लगे,	परिजने गते	=	नौकर चाकर छोड़कर चलेजाएं
वसुनि खण्डिते	=	धन तितर बितर होने लगे	यौवने शनैः शनैः नष्टे	=	जवानी धीरे धीरे ढलने लगे, (ऐसी दशा में)
अर्थिनि	=	याचक (दरवाजेसे)			
व्यर्थम्	=	बेकार, खाली हाथ	सुधियाम्	=	बुद्धिमानों के लिए
प्रयाते	=	चले जाने लगें,	जह्नु कन्या	=	गंगाजी के
बन्धुजने क्षीणे	=	दोस्त बिरादर घटने लगें,	पयः	=	पानी से
			पूते	=	पवित्र किये गये

गिरीन्द्र	= पर्वतराज हिमालय के	क्वचित् कुंजे	= किसी झाडी में
ग्राव कन्दर दरी	= चट्टानों की गुफा के आस पास	निवासः	= बास करना
		एतत् एव	= यही
		केवलम् युक्तम्	= मात्र उचित है

भावार्थ

मान भंग हो, धन दौलत तितर बितर हो जाए, याचक लोग दरवाजे से खाली हाथ लौटने लगें, बन्धु मित्र छूट जाएं, नौकर चाकर छोड़ चलें, जवानी भी जाती रहे, जब ऐसी दशा हो जाए तब बुद्धिमानों के लिए यही उचित है कि हिमालय पर्वत में गंगाजी के तट पर किसी गुफा में एकान्तवास करें।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में बताया गया था कि इस छोटे से जीवन को राजाओं और धनियों को प्रसन्न करने की चेष्टा में बेकार गंवाना नहीं चाहिए। स्वयं राजाओं और धनियों के लिए सब ठीक ठाक हैं, कहीं ऐसा भ्रम न हो, इसलिए इस श्लोक में कहा गया है कि वह भी सदा ऐसे ही बने नहीं रहेंगे, उनका राजपाट चौपट हो जाएगा, नौकर चाकर रास्ता नापेंगे, वे स्वयं बूढे हो जायेंगे इसलिए उनके लिए भी बुद्धिमानी यही है कि शरीर में बल रहते रहते आत्म-साधना में लग जाएं, नदी तट पर वास करें और जब तक जीवें प्रकृति का आनन्द लें और जब मरें तो गंगा का पानी उन के मृत शरीर को बहा ले जाए। अपने-को दुख नहीं दूसरों को कष्ट नहीं।

इस श्लोक में शब्द 'सुधियाम्' विचार करने योग्य है। इसी दशक में पिछले श्लोकों में विदुषाम्' का प्रयोग हुआ है। उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए दोनों ही जगह बुद्धिमान से ही अर्थ किया गया है। बुद्धि को परिष्कृत करना ही विद्या का उद्देश्य है। जिस विद्वान की बुद्धि परिष्कृत न हो उसकी विद्या व्यर्थ है। पिछले श्लोकों में 'विदुषाम्' शब्द का प्रयोग करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि यह लोग कोरे विद्वान है, बुद्धि शुद्ध नहीं है।

क्योंकि वे विद्वान बनकर भी राजाओं की [illegible] करने में जीवन गंवाते हैं। यदि अंत में संभल भी जाएं तो केवल [illegible] आग लगने पर पानी के लिए कुंआ खोदने जाते हैं। उन की क्रिया निरर्थक है।

श्लोक ७९

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली
रम्यं साधुसमागमागतसुखं काव्येषु रम्याः कथाः
कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः।

पदच्छेद

रम्याश्चन्द्र = रम्याः + चन्द्र
मरीचयस्तृणवती = मरीचयः + तृणवती
वनान्तस्थली = वन + अन्तः + स्थली
समागमागत = सम + आगम + आगत
कोपोपाहित = कोप + उपाहित
रम्यमनित्यतामुपगेते = रम्यम् + अनित्यताम् + उपगते

पदान्वय

चन्द्र मरीचयः रम्याः तृणवती वनान्तस्थली रम्याः साधु समागम आगत सुखम् रम्यम् काव्येषु कथाः रम्याः कोप उपाहित बाष्प बिन्दु तरलम् प्रियाया मुखम् रम्यम् सर्वम् रम्यम् पुनः चित्ते अनित्यताम् उपगते न किंचित् रम्यम

शब्दार्थ

चन्द्र मरीचय:	=	चन्द्रमा की चाँदनी, चाँदनी रातें	कोप	=	रूठने से
रम्याः	=	सुहावनी होती हैं,	उपाहित	=	उत्पन्न
तृणवती	=	हरियाली से भरी	बाष्प बिन्दु तरलम्	=	आँसुओं से भीगा
वनान्त स्थली	=	जंगल के भीतर मैदान	प्रियाया मुखम्	=	प्रेयसी का मुखड़ा
रम्याः	=	दिल को लुभाते हैं,	रम्यम्	=	सुन्दर होता है,
साधु समागम	=	साधु-सन्त के सत्संग से	सर्वम् रम्यम्	=	ये सब सुन्दर ही हैं,
आगत सुखम्	=	प्राप्त होनेवाला सुख	पुनः	=	फिर भी
रम्यम्	=	आनन्ददायी है,	चित्ते	=	मन के भीतर (उनकी)
काव्येषु	=	पुराणादि काव्यों की	अनित्यताम्	=	अस्थिरता के
कथाः	=	बातें या कहानियाँ	उपगते	=	पैठ जाने पर (यह सब)
रम्याः	=	रोचक होती हैं,	न किंचित् रम्यं	=	कुछ भी सुन्दर या आनन्ददायी नहीं हैं

भावार्थ

चाँदनी रातें बड़ी सुहावनी होती हैं। हरे-भरे मैदान मन को बहुत भाते हैं। सत्संग से सुख मिलता है। काव्य श्रवण में रस प्राप्त होता है। रूठी आंसुओं से पिया के मुख की शोभा बढ़ती है। यह सब ठीक है, किन्तु जहां इनकी अस्थिरता का ज्ञान हो गया फिर कोई वस्तु मन को जंचती ही नहीं।

विशेषार्थ

पिछले दोनों श्लोकों में धन-मूलक सुखों को क्षणिक बता कर बनों में तपस्या करने की बात कही गयी थी। इस श्लोक में वनवासी तपस्वियों को लक्ष्य करके कहा गया है कि जहाँ तक इन्द्रियों का सम्बन्ध है वनों में उपलब्ध पावन वस्तुएँ भी उतनी ही मोहक हैं। इसी दशक के श्लोक ७१ में भी इसी का संकेत है। जिस प्रकार मनुष्य को सुसज्जित प्रासादों में* भूल न जाना

चाहिए उसी प्रकार वन-प्रदेशों के सुन्दर दृश्यों में भी डूब न जाना चाहिए। यहाँ तक कि वनों में सत्संग तथा शास्त्र विचार को भी इन्द्रियों का विषय कहा गया है। स्त्री आदि के समान यह भी मनुष्य को मोह लेते हैं। तब क्या वनवास और तपस्या भी निरर्थक हैं? नहीं इनकी पवित्रता में कोई सन्देह नहीं है। अभिप्राय यहां पर केवल इतना ही है कि यहीं सब कुछ नहीं है।

वनवास और साधु-सन्तों के सत्संग तथा शास्त्र-विचार के साथ श्लोक में रूठी हुई पत्नी की सुन्दर आकृति का वर्णन करके सिद्ध किया गया है कि आत्मोन्नति के लिए सन्यास अनिवार्य नहीं है बल्कि बहू-बेटियों नाते-पातों से दूर वन के एकांत वास में चिढ़ कर कभी पत्नी रूठ भी जाए तो उसका रूठा हुआ मुखड़ा भी आकर्षक लगता है। फिर भी यह आकर्षण उनकी तपस्या में बाधक नहीं है। घर-संसार के सुखी प्राणियों को वनों के भीतर बसाने पर भी, शायद इसीलिए सभी का रमणीक वर्णन दिया है. नित्यानित्य का ज्ञान होने से पहले एक तपस्वी भी प्रकृति में वही आनन्द लेता है जो सांसारिक व्यक्ति अपनी गृहस्थी आदि में। इस प्रकार बिना ज्ञान के साधु भी संसारी ही है और ज्ञान होने पर गृह-जंजाल में फंसे रहने पर भी वह तपस्वी ही है। इसलिए श्लोक के अन्त में कहा गया है कि ज्ञान के उदय होने पर गृहस्थी तथा बनवास दोनों समान रूप से निरर्थक जंचते हैं, क्योंकि दोनों ही अनित्य हैं। इस प्रकार केवल वस्तुस्थिति का जान लेना ही नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक अंग में उसी प्रकार अनुभव करना और उसी के अनुसार आचरण करना ही ज्ञान है और ज्ञानी जगत की सभी वस्तुओं को अनित्य जानता है।

श्लोक ८०

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकम्
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकप्रीतये
किं तु भ्रान्तपतंगपक्षपवनव्यालोलदीपांकुर-
च्छायाचंचलमाकलय्यसकलं संतो वनान्तं गताः।

पदच्छेद

गेयादिकम् = गेय + आदिकम्
नैवाधिक = न + एव + अधिक
दीपांकुरच्छाया = दीप + अंकुर + छाया
चंचलमाकलय्य = चंचलम् + आकलय्य
वनान्तम् = वन + अन्तम्

पदान्वय

वसतये हर्म्यतलम् रम्यम् न किम्, गेयादिकम् श्राव्यम् न किम् वा प्राणसमा समागम सुखम् अधिक प्रीतये न किम् किन्तु भ्रान्त पतंग पक्ष पवन व्यालोल दीप अंकुर छाया चंचलम् सकलम् आकलय्य सन्तः वनान्तम् गताः

शब्दार्थ

वसतये	= रहने के लिए
हर्म्यतलम्	= अटारी
रम्यम् न किम्	= क्या अच्छी नहीं लगती अर्थात् अच्छी लगती है !
गेयादिकम्	= गाना आदि
श्राव्यम् न किम्	= सुनने में अच्छे नहीं लगते, जरूर अच्छे लगते हैं,
वा	= या
प्राण समा	= प्राणों के समान समझी जानेवाली प्रेयसी से
समागम सुखम्	= मिलने का सुख
अधिकम् प्रीतये	= क्या अधिक पसन्द
न एव किम्	= नहीं होता ?
किं तु	= फिर भी
भ्रान्त पतंग	= भूले हुए पतिंगों के
पक्ष पवन	= परों की हवा से
व्यालोल	= डोलनेवाले
दीप अंकुर छाया	= दीये की शिखा की लौ के समान
चंचलम्	= अस्थिर
सकलम्	= सब
आकलय्य	= समझ कर
सन्तः	= सन्त जन
वनान्तं	= बनों के भीतर
गताः	= चल दिये

भावार्थ

क्या रहने के लिए बड़ी-बड़ी कोठियां अच्छी नहीं होतीं ? क्या सुरीले गान सुनने में अच्छे नहीं लगते ? क्या प्रेयसी को गले लगाने में सुख नहीं मिलता ? अर्थात् सुसज्जित महलों में रहने में सुख जरूर मिलता है, मधुर गान मन को अवश्य लुभाते हैं, चांदनी रातें अवश्य सुहावनी लगती हैं, पिया के गले लिपट जाने से आनन्द अवश्य मिलता है। यह सब निश्चय ही रोचक वस्तुएं हैं, किन्तु इनका सुख क्षणिक है। इनकी स्थिति उस दीपक के समान है जिसके चारों ओर परवाने मंडराते हैं और उन परवानों के झोंकों से उस दीपक की स्थिति डांवाडोल होती है। दीपक से जल कर परवाने भुन जाते हैं। परवानों के गिर पड़ने से दीपक बुझ जाता है। इस तरह मनुष्य का इंद्रिय सुख भी है। सन्त जन इस बात को भली भांति जानते है। इसीलिए वनों में जा बसते हैं और तपस्या में जीवन बिताते हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में वनवासी का वर्णन था, इस श्लोक में नगरवासी धनियों का वर्णन है। इस प्रकार मनोभावना की दृष्टि से वन और नगर के सुखों को समान बताया गया है।

अष्टम दशक का सारांश

श्लोक ७१– पूजा-पाठ तथा कीर्तन-हवन बनिये के कारोबार मात्र हैं।

७२– धन-वैभव मिट्टी में मिल जाएगा। राज-महल क्या, मेरु-पर्वत भी मिट जाएगा।

७३– शरीर शिथिल हो जाएगा। पुत्र कलत्र साथ नहीं देंगे।

७४– बुढ़ा होने पर औरत भी हंसी उडाती है।

७५– शरीर में कस-बल रहते हुए ही मुक्ति का मार्ग ढूंढ लेना चाहिए।

७६– थोडे दिनों के जीवन में संसार के सभी काम कर डालने की चेष्टा बेकार है।

७७– धनी, राजाओं को प्रसन्न करना कठिन है। समझदार के लिए भगवात् भजन ही श्रेयस्कर है।

७८– स्वयं धनी राजा का वैभव भी सदा रहनेवाला नहीं है। उन्हें भी भगवान ही का शरण लेना होगा।

७९– वन-पर्वत की प्राकृतिक शोभा भी अनित्य है।

८०– राज-भवनों की सुख-सामग्री भी अनित्य है।

इस प्रकार इस दशक में सृष्टि की अनित्यता और ब्रह्म की नित्यता सिद्ध करने के बाद आगे भगवत् भजन की शिक्षा दी जाएगी।

श्लोक ८१

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतां तात तादृङ्
नैवास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रमार्गं गतो वा
योऽयं धत्ते विषयकरिणी गाढ़गूढ़ाभिमान––
क्षीबस्यान्तःकरणकरिणः संयमालानलीलाम्।

पदच्छेद

त्रिभुवनमिदम् = त्रिभुवनम् + इदम्
तादृङनैवास्माकम् = तादृक् + न + एव + अस्माकम्
योऽयम् = यः + अयम्
गूढाभिमान = गूढ + अभिमान
संयमालान = संयम + आलान

पदान्वय

यः अयम् विषय करिणी गाढगूढ अभिमान क्षीवस्य अन्तःकरण करिण संयम आलान लीलाम् धत्ते तादृक् आसंसारम् इदम् त्रिभुवनम् चिन्वताम् अस्माकम् नयन पदवीम् न गतः श्रोत्र मार्गम् वा न गतः

शब्दार्थ

यः अयम्	= वह जो
विषय	= विषय सुख के
करिणी	= हथिनी में
गाढ़ गूढ़ अभिमान	= गाढे और गहरे प्रेम के कारण
क्षीवस्य	= मस्त बने हुए
अन्तःकरण	= मन रूपी
करिणः	= हाथी को
संयम आलान लीलाम्	} संयम रूपी खूँटे की तरह
धत्ते	= बांधे रहे
तद्दाक्	= उस तरह का (व्यक्ति)
आसंसारम्	= जब से संसार की सृष्टि हुई तबसे
इदम् त्रिभुवनम्	= इन तीनों लोकों में
चिन्वताम्	= खोजने पर
अस्माकम्	= हमारी
नयन पदवीम्	= आखों में
न गतः	= नहीं पड़ा
वा	= या
श्रोत्र मार्गम्	= कानों में भी
न गतः	= नहीं पड़ा अर्थात् देखने या सुनने में नहीं आया

भावार्थ

सृष्टि के आदि से लेकर अब तक तीनों लोकों में भी कोई ऐसा पुरुष ढूंढे नही मिलता जो विषय रूपी मनोहारिणी हथिनी पर मस्त

हाथी के समान पिल पड़ने वाले मन को बांध रखने में समर्थ हुआ हो, अर्थात् मन को वश में रखना प्राणिमात्र के लिए प्राय: असम्भव है ।

विशेषार्थ

पिछले दशक में संसार के सारे वस्तुओं को अनित्य सिद्ध करने के बाद तपस्या की शिक्षा दी गयी थी । इस दशक में उसी तपस्या की रूप रेखा बतायी गयी है। आगे जैसा विदित होगा, भगवान शिव का मनन पूजन ही सर्व श्रेष्ठ है।

पूजा दो प्रकार की होती है। एक बाहरी और दूसरी भीतरी । फूल पत्तों का चढ़ाना, होम आदि करना, यह बाहरी पूजा है । मन के भीतर उस अखण्ड मूर्ति का चिंतन करना और उन ईश्वरीय गुणों के अनुकूल अपने जीवन को ढालना, यह भीतरी पूजा है ।

यहां पर भीतरी पूजा को ही महत्व दिया गया है । इसका सम्बन्ध मन से है । इसलिए मन को विषयों से हटाकर ठिकाने रखने से इस तपस्या की शुरुआत होती है । सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक अकेले इस पृथ्वी पर ही नहीं, तीनों लोकों को छान डालने पर भी एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला, हम ही नहीं, किसी दूसरे ने भी देखा सुना नहीं । अभिप्राय यह है कि संसार में जितना आडम्बर रचा जाता है और जितना कोलाहल मचाया जाता है उसमें सच्ची तपस्या का आभास भी नहीं होता, उसको सांगोपांग समाप्त कर फल पाना तो दूर की बात है । तीनों लोकों में भी सच्ची तपस्या का एक नमूना भी न मिलने का मतलब यह है कि स्वर्ग में देवताओं के अधिपति इन्द्र और पाताल के अधीश राजा बलि दोनों ने भी पूजा के मर्म को नहीं पहचाना । अर्थात् उन्होंने जो कुछ पुरुषार्थ किया है और जो कुछ पुण्य प्राप्त किया है, वह सब असली तपस्या की पहली सीढी भी नहीं है । तब क्या उनका सारा पुरुषार्थ व्यर्थ का था ? हाँ, उन्होंने अपने मन को नहीं जीता । इन्द्र जैसे व्यक्तियों को अपने स्वर्गाधिपत्य के खो जाने का डर लगा है और बलि जैसे को उस इन्द्र पदवी पाने का लालच सता रहा है । इससे बचने का एक मात्र उपाय मन पर काबू पाना मात्र है । न वह डर रहे और न यह लालच । इसकी साधना कठिन भी है और सरल भी । बलि-पुरंदर भी नहीं कर सके, इसलिए कठिन और सरल इसलिए कि एक अकिंचन व्यक्ति के लिए भी यह साध्य है । इस सरल मार्ग को समझाने की चेष्टा आगे की गयी है ।

श्लोक के भिन्न भिन्न कड़ियों के भीतर जिन बातों की ओर संकेत है वह भी विचारने योग्य हैं। आंखों से देखा नहीं गया, कानों से सुना नहीं गया, फिर भी उसकी ओर संकेत किया गया है। इसके माने यह है कि उसे केवल मन से जाना जा सकता है। जानने के साधन इन्द्रियां नहीं बल्कि मन है। जगत को जानने के लिए इन्द्रियों की शक्ति को बाहर फेंकना पड़ना है। मगर यहाँ पर उनके बांध रखने की जरूरत है। वह इतना गूढ़ विषय है कि शक्तियों को फैलाने से काम नहीं चलेगा, बल्कि सारी शक्ति को एक जगह बटोर कर गहरे पैठने की जरूरत है। अंत में इस कठिन कार्य को जिसे कोई न कर सका उसे लीला रूप में ही किया जाना चाहिए। ऐसा सहज और सरल बन जाए, मानो बच्चों का खेल हो। इस प्रकार अगोचर परमात्मा को मनोजगत में साक्षात करना चाहिए। यही पूजा की उत्तम विधि है।

श्लोक ८२

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं
सहार्य्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम्
मनो मन्दस्पदं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन्
न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः।

पदच्छेद

यदेतत्स्वच्छन्दम् = यत् + एतत् + स्वच्छंदम्
विहरणमकार्पण्यमशनम् = विहरणम् + अकार्पण्यम् + अशनम्
सहार्य्यैः = सह + आर्यैः
श्रुतमुपशमैक = श्रुतम् + उपशम + एक
बहिरपि = बहिः + अपि
चिरस्यापि = चिरस्य + अपि
कस्यैषा = कस्य + एषा
परिणतिरुदारस्य = परिणतिः + उदारस्य

पदान्वय

यत् एतत् स्वच्छन्दम् विहरणम् अकार्पण्यम् अशनम्
आर्य्यैः सह संवासः उपशम एक व्रत फलम् श्रुतम्
बहिः मन्दस्पन्दम् मनः अपि एषा कस्य उदारस्य
तपसः परिणतिः चिरस्य विमृशन् अपि न जाने

शब्दार्थ

यत् एतत्	= जो यह	बहिः अपि	= (और) बाहर की ओर भी
स्वच्छन्द विहरणम	= स्वेच्छा पूर्वक बिचरना	मंद स्पन्दम्	= बहुत कम प्रवृत्त होने वाला
अकार्पण्यम् अशनम्	= दीनता से रहित भोजन	मनः	= मन
आर्यैः सहैः संवासः	= श्रेष्ठ जनों के साथ उठना बैठना	एषा	= यह सब
		कस्य	= किस
उपशम एक व्रत फलम्	= मन की शांति जिस का प्रधान फल है (उस)	उदारस्य	= महान
		तपसः परिणतिः	= तपस्या का फल है
		चिरस्य	= सदा
श्रृतम्	= शास्त्र पुराणादि का श्रवण	विमृशन् अपि	= विचारने पर भी
		न जाने	= नहीं समझ पाते

भावार्थ

यह स्वच्छंद आहार बिहार, यह चित्त की शान्ति, तथा उसका अंतर्मुखी हो जाना, ऐसी अपूर्व स्थिति मनुष्य को न जाने किस महान पुण्य के प्रताप से प्राप्त होती है, चाहे कितना ही सोचें विचारें इस का रहस्य कुछ भी समझ में नही आता।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि मन को वश में करना कठिन है। इस श्लोक में बताया गया है कि कठिन तो है किंतु असम्भव नहीं है। रहन सहन पर किसी दूसरे का नियंत्रण न होवे, भोजन छाजन के लिए खुद को किसी

प्रकार की चेष्टा न करनी पड़े और जैसे भी मिले उसमें स्वाभिमान को धक्का भी न लगे। यह सब बड़ी टेढ़ी खीर है। आवारा गर्दी या भीख मांगने की बात नहीं है। क्यों कि आगे लोकोत्तर पुरुषों की बात कही गयी है। केवल सत्संग से ही काम समाप्त नहीं हो जाता। स्वयं अपने अंदर सद्विचारों का होना भी जरूरी है। तभी मन का बहकना बंद होगा और तब ही वह अंतर्मुखी बनेगा। जिस क्रम से यह चीजें कही गयी हैं उसी क्रम से मनुष्य को आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए। एक की प्राप्ति पर दूसरे के लिए रास्ता खुल जाता है। अगर आत्मिक उन्नति का आधार आहार विहार की स्वच्छन्दता है तो सांसारिक उन्नति के लिए भी यही स्वतंत्रता प्रधान है। इस तरह आजकल का आर्थिक आजादी का आन्दोलन भी इसमें बाधक नहीं है, बल्कि साधक भी हो सकता है।

सांसारिक उन्नति और पारमार्थिक उन्नति में अन्तर है। इसलिए उन दोनों की स्वतंत्रता में भी भिन्नता है। परमार्थ के लिए रहन-सहन में स्वच्छन्दता होती है। फिर भी उसकी एक विधि है। इसी प्रकार भोजन-छाजन के लिए स्वयं कोई परिश्रम न करते हुए भी वह एकदम स्वतंत्र है। गृहस्थी की स्वतंत्रता इस कोटि की नहीं है। गृहस्थ की स्वतंत्रता में भी परतंत्रता छिपी है, जब कि परमार्थी की परतंत्रता में भी सम्पूर्ण स्वतंत्रता निहित है। अस्तु, श्लोक में बताया गया है कि यह क्रम परामार्थिक उन्नति का साधन है। यदि एक ओर हर पहली बात के साधने पर दूसरी बात के लिए रास्ता खुल जाता है, तो दूसरी ओर यह भी है कि जिस स्थान पर वह रुक जाए वहीं वह स्थिर नही रह सकता। वहीं से उसकी गिरावट शुरू हो जाती है। इसलिए पारमार्थिक साधना में भी सन्तोष करके बैठने की बात नहीं है।

इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति अंतर्मुखी होने में सफल हुआ और इसी क्रम से उस स्थिति को प्राप्त हो गया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धि को प्राप्त करने का यही एक मात्र उपाय है, न प्रत्येक व्यक्ति, जो इन साधनों को अपनाये, सिद्ध हो सकता है और न प्रत्येक सिद्ध पुरुष का इसी क्रम से होकर निकलना जरूरी है। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई अगोचर शक्ति ही इसमें काम करती हैं। वह समझने समझाने से बाहर की वस्तु है। अगले श्लोक में इसी विषय को और स्पष्ट किया गया है।

श्लोक ८३

जीर्णा एव मनोरथाश्च हृदये यातं च तद्यौवनं
हन्तांगेषु गुणाश्च वंध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना
किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान् कालः कृतान्तोऽक्षमी
हा ज्ञातं मदनांतकांघ्रियुगलं मुक्त्वाऽस्ति नान्या गतिः।

पदच्छेद

मनोरथाश्च = मनोरथाः + च
तद्यौवनम् = तत् + यौवनम्
हन्तांगेषु = हन्त + अंगेषु
गुणाश्य = गुणाः + च
गुणज्ञैर्विना = गुणज्ञैः + विना
सहसाभ्युपैति = सहसा + अभि + उपैति
कृतान्तोऽक्षमी = कृतान्तो + अक्षमी
मदनान्तकांघ्रि = मदन + अन्तक + अंघ्रि
मुक्त्वाऽस्ति = मुक्त्वा + अस्ति
नान्या = न + अन्या

पदान्वय

मनोरथाः हृदये जीर्णा हंत तत् यौवनम् च अंगेषु गलितम्
गुणज्ञैः विना गुणाः च वन्ध्य फलताम् यातः
बलवाम् अक्षमी कृतान्नः कालः सहसा अभि उपैति किम् युक्तम्
हा ज्ञातम् ! मदन अन्तक अंघ्रि युगलम् मुक्त्वा अन्या गति न अस्ति

शब्दार्थ

मनोरथाः	= इच्छाएं	हंत	= हाय
हृदये	= मन के भीतर	तत् यौवनम्	= वह जवानी भी
जीर्णाः	= नष्ट हो गयीं, रह गयीं,	अंगेषु	= शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में से

यातम्	= जाती रही,	कालः	= काल, यमराज
गुणज्ञैः	= गुणों की कद्र जाननेवाले न होने के कारण	सहसा	= महा वेग से
		अभिउपैति	= आ पहुँच रहा है, (ऐसे समय)
गुणाः च	= विद्या, बुद्धि, शील, विनय आदि अच्छे गुण भी	किम् युक्तम्	= क्या करना उचित होगा ?
		हा, ज्ञातम्	= अहा, जान गया
वन्ध्य फलताम याता	= अकारथ, निष्फल हो गये	मदन अन्तक	= मदन के बैरी शिवजी के
बलवान्	= बली	अंघ्रि युगलम् मुक्त्वा	= दोनों चरणों को छोड़
अक्षमी	= क्षमा या सहन न करनेवाला	अन्य गति	= दूसरा आसरा
कृतान्तः	= अन्त कर डालने वाला	न अस्ति	= नहीं है

भावार्थ

सारे हौसले बैठ गये। सारी जवानी जाती रही। सारे गुण अकारथ गये। अन्त में यमराज भी सिर पर आ धमके। अब बीती बातों कर पछताने से कोई लाभ नहीं। ऐसे समय यदि कोई आसरा है तो अकेले महदेव शिव का है।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि किसी महा-पुण्य के प्रसाद से ही मन अपने बस में हो सकता है। इसमें कहता है कि हममें उसकी इच्छा भी थी और उसे प्राप्त करने योग्य बल और बुद्धि भी थी फिर भी न हो सका। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि केवल मनुष्य के पुरुषार्थ पर ही सब कुछ निर्भर नहीं है। अभागे व्यक्ति की सारी योग्यता कौड़ियों महँगी जंचती है। कारण क्या है? ईश्वर की माया है, या संचित संस्कार है, समझ से बाहर है। इसीलिए अन्त में कहा गया है कि महादेव के चरणों के सिवा दूसरा कोई आसरा नहीं है। उसी की विचित्र लीला से असंभव बातें घंटों, मिनटों में आश्चर्य-जनक रूप से

सम्पन्न हो जाती है और यह भी उसी की लीला है कि साधु-जीवन, सत्संग त्याग, तपस्या सब अकारथ जाती है और दुनिया हँसती रह जाती है। अपने बल पौरुष से कुछ न हो पावे और हमारी त्याग तपस्या पर भी दुनिया हँसती रहे, तब ईश्वर के सिवा किसके शरण में जाएँ !

श्लोक ८४

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्तु मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।

पदच्छेद

जगतामधीश्वरे = जगताम् + अधीश्वरे
जगदन्तरात्मनि = जगत् + अन्तः + आत्मनि
प्रतिपत्तिरस्ति = प्रतिपत्तिः + अस्ति
तथापि = तथा + अपि
भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे = भक्तिः + तरुण + इन्दु शेखरे

पदान्वय

जगताम् अधीश्वरे महेश्वरे
वा जगत् अन्तरात्मनि जनार्दने
मे वस्तु भेद प्रतिपत्ति न अस्ति
तथापि मे तरुण इन्दु शेखरे भक्तिः

शब्दार्थ

जगताम्	=	समस्त जगत के
अधीश्वरेः	=	प्रभु
महेश्वरे	=	महादेव जी में
वा	=	या
जगत्	=	सृष्टि के
अन्तरात्मनि	=	अन्तर्यामी
जनार्दने	=	विष्णु भगवान में
मे	=	मुझे

वस्तु भेद	=	अलग-अलग होने का
प्रतिपत्तिः	=	भाव
न आस्ति	=	नहीं है
तथापि	=	तब भी
तरुण छंद्र शेखरे	=	बालचन्द्र को सिर पर धारण किये हुए महादेव में
भक्तिः	=	(मुझे) श्रद्धा है,

भावार्थ

सर्वेश्वर महादेवजी तथा सर्वान्तर्यामी जनार्दन में हम भेद नहीं मानते। फिर भी शिवजी में ही हमें अधिक श्रद्धा हैं।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक की भगवद्‌भक्ति ही इस श्लोक का विषय है। शिव और विष्णु का झगडा बहुत पुराना है। इसकी शुरुआत कब से हुई, यह कहना कठिन है। ऐसा लगता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व भी इस पर काफी झक झक थी। श्लोक में दोनों को अभेद कहा है। क्यों? भगवान विष्णु पालनहार हैं तो महादेव जी तारणहार हैं। एक सारे विश्व पर छाये हुए हैं तो दूसरे कण कण के भीतर समाये हुए हैं। जो बाहर है वही भीतर भी है। दोनों एक हैं।

किंतु शिव विष्णु की व्याख्या दूसरे ढंग से अधिक उपयुक्त होगी। विष्णु भगवान ने लक्ष्मी को वक्षस्थल पर धारण कर रखा है तो शिवजी ने गले के भीतर कालकूट विष को ले रखा है। विष्णु लक्ष्मी को लेकर सुख भोग करते हैं तो महादेव आप स्वयं विष पीकर संसार को संकट से बचाना चाहते हैं। इस प्रकार भगवान विष्णु भोग के प्रतीक हैं और शिव जी त्याग की मूर्ति। इसलिए श्लोक का यह अभिप्राय लिया जा सकता हैं कि मनुष्य की मुक्ति भोग और त्याग, गृहस्थी तथा सन्यास दोनों ही मार्ग से समान रूप में संभव है। विष्णु और शिव के रूप को अभेद मानने का यही अभिप्राय है। शिवजी के प्रति अधिक श्रद्धा दिखानें का मतलब यह है कि भोग की अपेक्षा त्याग का

मार्ग अधिक सम्मत है। स्वयं शासन की बागडोर हाथ में लेकर जनहित करना भोग है और शासन से विमुख होते हुए भी अयोग्य व्यक्तियों को पदच्युत करना तपस्या है और योग्य व्यक्तियों को शासनारूढ़ करना त्याग है और यह ऊंची बात है।

श्लोक ८५

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वाऽपि पुलिने
सुखासीना शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः
भवाभोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्युच्चवचसः
कदा स्यामानंदोद्गत्बहुलबाष्पाकुलदशाम्।

पदच्छेद

क्वाऽपि = क्वा + अपि
सुखासीन = सुख + आसीन
भवाभोगोद्विग्नाः = भव + आभोग + उद्विग्नाः
शिवेत्युच्च = शिव + इति + उच्च
स्यामानंदोद्गत = स्याम + आनन्द + उद्गत
बाष्पाऽकुल = बाष्पा + आकुल

पदान्वय

शान्त ध्वनिषु रजनीषु स्फुरत् स्फार ज्योत्स्ना धवलित तले
द्युसरित पुलिने क्वा अपि सुख आसीना
भव आभोग उद्विग्नाः शिव शिव शिव इति उच्च वचसः
आनंद उद्गत बाष्पा आकुल दशामः कदा स्याम

शब्दार्थ

शान्त ध्वनिषु = कोलाहल से एकदम शांत
रजनीषू = रातों में
स्फुरत् स्फार ज्योत्स्ना = छिटकी चांदनी से
धवलित तले = धुली हुई जगह
द्युसरित पुलिने = गंगाजी के तट पर
क्वा अपि = किसी जगह
सुख आसीना = आराम से बैठकर
भव आभोग उद्विग्नाः = संसार के भोगों से आकुल हुए हम
शिव शिव शिव इति उच्च वचसः = शिव शिव शिव, कह कर ऊंचे स्वर से बोलते हुए
आनंद उद्गत = परमानन्द मे उमडे हुए
बहुल बाष्पा = बहुत सारे आंसुओं के साथ
आकुल दशाम् = व्याकुल दशा वाले
कदा स्याम = कब होंगे

भावार्थ

वह दिन कब आवेगा जब हम इन सांसारिक झंझटों से दूर चांदनी रातों में गंगाजी के किनारे बालू के एक टीले पर बैठकर खूब दिल खोलकर शिवजी का भजन करेंगे और उस भजन में हम एकदम विभोर हो जायेंगे ।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में शिव–भक्ति को प्राधान्यता दी गयी थी। इसमें उसी शिव भक्ति के रूप का वर्णन किया गया है। गंगाजी के तट और चांदनी रातों पर जो जोर दिया गया है उससे शिवजी का सान्निध्य अपेक्षित है। क्यों कि शिवजी के मस्तक में चन्द्रमा विराजमान हैं और चोटी से गंगा जी की धारा बह चली है। बालू का टीला इसलिए कि पशु पक्षी भी पास न हों और रात का समय इसलिए कि उनका शब्द भी न सूनाई पडे। यह तो एक विचित्र स्थिति है। एकान्त हो, चांदनी रात हो, मुलायम बालू का बिछौना हो, मंदाकिनीं की मंद मंद वायु हो, इस सब से तो प्रसुप्त मन्मथाग्नि प्रज्वलित ही होगी। इसीलिए जीभ पर मन्मथारि शिवजी की रट है, जोर का आर्तनाद है। आनन्द वाष्पों

मे इस प्रयास के परिणाम की ओर संकेत है। बहुत अच्छा है, किंतु ऐसा अवसर आयेगा कब ? अर्थात् अभी वह स्थिति प्राप्त नहीं है। अगले श्लोक में देखिये किस कमी की ओर संकेत किया गया है।

श्लोक ८६

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुणपरिणामां विधिगतिम्
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणा-
स्त्रियामा नेष्यामो हरचरणचिन्तैक शरणाः।

पदच्छेद

पुण्यारण्ये = पुण्य + अरण्ये
शरच्चन्द्र = शरत् + चन्द्र
किरणास्त्रियामाः = किरणाः + त्रि यामः
चिन्तैक = चिन्ता + एक

पदान्वय

तरुण करुण पूर्ण हृदयाः सर्वस्वे वितीर्णे
संसारे विधि गतिम् विगुण परिणामाम् स्मरन्तः
पुण्य अरण्ये हर चरण चिन्ता एक शरणाः
परिणत शरत् चन्द्र किरणाः त्रियामा नेष्यामः

शब्दार्थ

तरुण करुणपूर्ण हृदया = कोमल दया से भरे दिल से
सर्वस्वे वितीर्णे = सब कुछ (दोनों को) बांटकर
संसारे = संसार में
विगुणपरिणामाम् = बुरे परिणाम वाली
विधि गतिम् = दैव गति का
स्मरन्तः = ध्यान करते हुए

पुण्य अरण्ये	=	पवित्र बनों में	शरत् चन्द्रकिरणाः	=	शरत् काल के चन्द्रमा की किरणों वाली
हर चरण चिंता	=	शिवजी के चरणों के ध्यान ही को	त्रियामा	=	रातें
एक शरणा	=	एक मात्र आसरा मानकर	नेष्यामः	=	बितावेंगे
परिणत	=	पक्के			

भावार्थ

भूत दया से प्रेरित होकर सर्वस्व दूसरों को देकर दुनिया में दैव गति पर विचार करते हुए, किसी पावन वन में शिवजी के भजन में हम अपना जीवन बितावेंगे।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में जिस कमी का अनुमान किया गया था वह इसमें स्पष्ट किया गया है। 'सर्वस्व' दूसरों को दे डालना तथा 'त्रिगुण परिणामा' इन दो शब्दों में परस्पर सम्बन्ध मालूम होता है। धन जायदाद ही दुनिया में त्रिगुण-परिणाम के कारण हैं। इसलिए सब कुछ लोगों में बाट देने की बात कही गयी है। फिर भी संसार का दुख नहीं मिटता। इसी को दैव-गति कहा गया है। अन्त में अपने को लाचार पा कर पुण्यारण्य में भगवान का शरण लेता है। क्या बस्ती में चारों ओर दुःख ही दुःख भरा पड़ा है? यदि है तो क्या उसके निवारण का यही उपाय है? यह बात मानुष्य के सामर्थ्य के परे की बात मालूम होती है। तभी तो इसको दैव-गति कह कर छुट्टी पाने की चेष्टा की गयी है। स्वयं पाप के भागी न बनें, दुःख के कारण न बनें, इसीलिए सर्वस्व स्वाहा कर दिया। आगे पाप न होने पावे, इसलिए वनों में बस गया! इसमें सन्देह नहीं कि उस अकेले व्यक्ति को किसी न किसी तरह कुछ शान्ति अवश्य मिल जाती है। किन्तु समूचे संसार का सुख अब भी आकाश-कुसुम ही है। समाज को सुखी देखना चाहते हैं, पर अपने को असमर्थ पाते हैं। कम से कम अपने ही को शान्ति मिले, इसलिए वन में जाते हैं, तपस्या करते हैं। कदाचित् इससे उनका कल्याण भी होता होगा। क्या अकेले अपने कल्याण की चेष्टा करना स्वार्थ नहीं है? नहीं। दूसरों के दुःख से दुःखी होना, उस दुख के लिए सर्वस्व स्वाहा कर देना फिर अपने से दूसरों को पीड़ा न पहुँचे इस लिए खुद कष्ट भोगना, यह सब पुण्य कार्य ही हैं, क्योंकि यह परोपकार है।

'सर्वस्व' शब्द भी विचारने योग्य है। सर्वस्व में अधिक या कम का सवाल नहीं है। जो कुछ जिसके पास हो वही उसका सर्वस्व है। और सर्वस्व चाहे किसी का अधिक हो या किसी का कम, सब बराबर है। चक्रवर्ती राजा के लिए साम्राज्य सर्वस्व तो एक कंगाल के लिए उसकी चीर छप्पर ही सर्वस्व है। दोनों को अपनी-अपनी चीजें समान रूप से प्रिय हैं। राजा साम्राज्य को तिलाजलि दे और कंगाल कुटिया को फूंक दे। दोनों का त्याग समान ही है। उस त्याग के बाद दोनों की स्थिति समान है, तो उस त्याग से पहले भी वास्तव में समान ही थी। ईश्वर के दरबार में दोनों समान हैसियत से ही प्रवेश करेंगे। पैदा भी समान रूप में हुए थे। मरते भी समान रूप में ही हैं। भगवान के पास से जिस रूप में आये थे, उस के पास पहुंचने का भी वही रूप होना चाहिए। लोग जो धन, मान से संसार में बडे बनने की चेष्टा करते हैं वह अपने लिए भगवान का द्वार बंध करते हैं।

श्लोक ८७

कदा वाराणस्याममरतटिनी रोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेति क्रोशन्निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।

पदच्छेद

वाराणस्याममरतटिनी = वाराणस्याम् + अमर तटिनी
निधानोऽञ्जलि = निधान: + अञ्जलि
प्रसीदेति = प्रसीद + इति
क्रोशन्निमिषमिव = क्रोशन् + निमिषम् + इव

पदान्वय

कदा वाराणस्याम् अमर तटिनी रोधसि वसन्
कौपीनम् वसानः अञ्जलि पुटम् शिरसि निद्धानः
अये, गौरीनाथ, त्रिपुहर, शम्भो, त्रिनयन
प्रसीद इति क्रोशन् दिवसान् निमिषम् इव नेष्यामि

शब्दार्थ

कदा	=	कब	अये गौरीनाथ, त्रिपुरहर शम्भो, त्रिनयन	}	हे, गौरीनाथ, त्रिपुरहर, शम्भो, त्रिनयन
वाराणस्याम्	=	बनारस, काशी जी में	इति	=	इस प्रकार
अमर तटिनी रोधसी	=	गंगाजी के किनारे	क्रोशन्	=	आर्तनाद करते हुए
वसन्	=	रहकर	दिवसान्	=	दिनों को
कौपीनं वसान:	=	लंगोटी लगाये	निमिषम् इव	=	मिनटों की तरह
अञ्जलि पुटम्	=	दोनों हाथ जोड़	नेष्यामि	=	बिताऊंगा
शिरसि निदधान:	=	सिर पर रख			

भावार्थ

वह दिन कब आएगा जब मैं काशीजी में गंगा किनारे लंगोटी लगाये सिरपर हाथ जोडे भगवान विश्वनाथ की प्रार्थना में दिनों को मिनटों के समान काट डालूंगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक के सर्वस्व त्यागने के बाद जो कुछ करना चाहिए वह इसमें और अगले श्लोक में कहा गया है। एक में काशीवास की चर्चा है और दूसरे में वनवास की। काशीवास से भगवान विश्वनाथ के दर्शन और भिक्षा से शरीर यात्रा अपेक्षित है। दिन मिनटों के समान काटने का अभिप्राय यह है कि खाने कपडे की तंगी या बन्धु मित्रों का वियोग खले नहीं। जब मनुष्य किसी काम में दिल से लगा रहता है तब उसे पता ही नहीं रहता कि दिन कब कट गये। सारा दिन काम करने के बाद भी दिल यही चाहता है कि काश दिन और बड़ा होता जिससे थोडी देर और काम करते। सो उसने अपने लिए काम सोच लिया है भगवद्भजन। जब आदमी भजन ही को अपना काम मान लेता है तब उसे उस काम से भी छुट्टी नहीं मिलती। सारा समय उसी में लगा रहता है और ऐसा लगता है कि समय कम मिला। दिन तो चौबीस ही घंटों का होगा। इस लिए दिनों का घंटों मिनटों की तरह कट जाना स्वाभाविक है।

श्लोक ८८

स्नात्वा गांगैःपयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभो त्वां
ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यंकमूले
आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे
दुःखं मोक्ष्ये कदाहं समकरचरणे पुंसि सेवासमुत्थम् ।

पदच्छेद

फलैरर्चयित्वा = फलैः + अर्चयित्वा
फलाशी = फल + अशी
स्मरारे = स्मर + अरे
समुत्थम् = सम + उत्थम्

पदान्वय

गांगैः पयोभिः स्नात्वा विभो त्वाम् शुचि कुसुम फलैः अर्चयित्वा ध्येये ध्यानम् नियोज्य क्षितिधर कुहर ग्राव पर्यंक मूले आत्माराम फल अशी गुरु वचन रतः स्मर अरे त्वत् प्रसादात् अहम सम कर चरण पुंसि सेवा समुत्थम् दुखम् कदा मोक्ष्ये

शब्दार्थ

गांगैः	= गंगाजी के	ध्यानम् नियोज्य	= मन लगा कर
पयोभिः	= जल में	क्षिति धर	= पहाडों के
स्नात्वा	= स्नान कर के	कुहर ग्राव	= गुफाओं के चट्टान (से बने)
विभो	= हे प्रभु	पर्यंक मूले	= बिछौने के एक कोने में
त्वाम्	= तुझे	आत्माराम	= अपनी आत्मा में ही रमने वाला (बन कर)
शुचि	= पवित्र	फल अशी	= फलाहारी हो कर
कुसुम फलैः	= फूल फल से,		
अर्चयित्वा	= पूजा करके		
ध्येये	= ध्यान योग्य तुझ में		

गुर वचन रतः	= गुरु के उपदेश में मन लगाया हुआ	सम कर चरण पुंसि	= मेरे समान हाथ पैर वाले मनुष्य की
स्मर अरे	= हे कामदेव के शत्रु भगवान महादेव	सेवा समुत्थम्	= चाकरी से उत्पन्न होनेवाले
त्वत् प्रसादात्	= तेरी कृपा से	दुःखम्	= दुख से
अहम्	= मैं	कदा मोक्ष्ये	= कब छूटूंगा

भावार्थ

हे कामदेव के शत्रु शंकर महाराज वह दिन कब आवेगा जब मैं गंगा जी में स्नान कर, तुझे पवित्र फल फूलों की भेंट कर, हिमालय पर्वत की कन्दराओं में किसी चट्टान पर बैठ, एकाग्र चित्त से तेरा चिन्तन मनन करूँगा और अपने ही समान मनुष्य के आश्रित होने के दुख से मुक्त हो कर वन के कन्द मूल फल पर निर्वाह करते हुए तेरी कृपा से गुरुदेव के उपदेशों का पालन कर सकूंगा !

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में काशी जी के पुण्य क्षेत्र में रहने का अभिप्राय था श्री विश्वनाथ जी के दर्शन करना और भिक्षा पर निर्वाह करना। इस श्लोक में उस से आगे बढ़ गया है। अब उसे न जन समूह के बीच रहने की आवश्यकता है और न विश्वनाथ जी के मन्दिर में घंटा बजाने की जरूरत। वरन् उसे अब वन पर्वतों में कन्दमूल पर निर्वाह करके अपने मन मन्दिर में ही भगवान का साक्षातकार करने की इच्छा है।

निर्जन वन में जा बसने तथा भगवद्भजन करने की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका कारण श्लोक के अन्तिम पद से प्रकट होता है। एक मनुष्य का अपने ही समान दो हाथ पैरवाले दूसरे मनुष्य की चाकरी करना बहुत दुखदायी वस्तु है। यदि समाज में विषमता नाम की कोई वस्तु न हो, चारों ओर समता का साम्राज्य हो, अपमान का एकदम अभाव हो, तो शायद, किसी भी मनस्वी को इस प्रकार तपस्वी बनने की नौबत न आवे। क्या सचमुच अपने जैसे मनुष्य की चाकरी से मुक्ति पाना ही तपस्या का उद्देश है ? क्या इसी

को मोक्ष कहा गया है ? वन पर्वतों में जा बसने से निजी शरीर को तो छुटकारा मिल जाता है, किन्तु इससे समाज का उद्धार कैसे हो सकता है ? समाज के सब लोग ऐसी ही अवस्था की शरण लें तो वन भी बस्ती बन जाए। बन में भी कन्दराओं के लिए मार काट होने लगे। कन्द मूल का अकाल पड़े। इस पर थोड़ा-सा भी विचार करने पर आकुलता बढ़ने लगती है। कदाचित् इसीलिए 'स्मर अरि' के शब्द का उपयोग किया गया है। कामदेव को भस्म कर डाला था, इसीलिए महदेव जी का नाम स्मर अरि है। 'स्मर-अरि' शब्द से यह झलक निकलती है कि समाज की विषमता के स्मरण मात्र से कष्ट होता है। इसलिए प्रार्थना की गयी है—हे भगवान ! उसका ध्यान भी न आवे ! संसार के सारे सुख दुख भावना मात्र ही तो हैं। यह भावना भी दूर हो जाय तो तब चिन्ता किस बात की ?

श्लोक ८९

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।

पदच्छेद

दिगम्बरः = दिक् + अम्बरः

पदान्वय

शम्भो, एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणि पात्रः दिगम्बरः
कर्म निर्मूलन क्षमः कदा भविष्यामि

शब्दार्थ

शम्भो	= हे महादेव	निःस्पृहः	= सुख दुख से उदासीन हो
एकाकी	= अकेला, जिसे किसी दूसरे से कोई मतलब न हो	शान्तः	= मनमें संकल्प विकल्प न हों

पाणि पात्रः = हाथ ही जिसको पात्र हो अर्थात् अंजुलि में ही खाऊं पिऊं

दिगम्बरः = दिशायें जिस के ओढ़ने पहने के कपडे हों, अर्थात् एकदम नंगा रहूं

कर्म निर्मूलन क्षमः = प्रारब्ध कर्मों को जड़ से उखेड़ फेंकने में समर्थ

कदा भविष्यामि = मैं कब बनूंगा ?

भावार्थ

मनमें किसी से राग द्वेष न हो, एकदम एकाकी रहूँ, मन में कोई संकल्प विकल्प न हो, एकदम शान्त रहूं, सुख दुख का अनुभव न करूं, एकदम उदासीन रहूं, खाने पहनने की चिंता न करूं, एकदम नंगा रहूं और जो कुछ खाने को मिले अंजुलि में खा पी डालूं; हे भगवान् ! ऐसा मैं कब बनूंगा।

विशेषार्थ

पिछले श्लोक में कहा गया था कि अपने ही जैसे दो हाथ पैर वाले मनुष्य की चाकरी करना महा दुखदायी होता है, इसलिए बनबास उचित है। इस श्लोक में पिछलें दोनों श्लोकों का समाधान है। वन में जाने की विशेष आवश्यकता नहीं। समाज ही में सबके बीच में उसी तरह से रहें, ठीक उसी तरह जैसे वन में अकेले रहते हैं। सबके साथ रहें, किन्तु न किसी से प्यार, न किसी से बैर। शरीर के सारे सुख दुख भोगते रहें किंतु रहें उनसे उदासीन। हथेली पर खाने और नंगे रहने का अभिप्राय यह है कि एकदम अपरिग्रही बने। कोई जायदाद न जुटावें, खटराग न फैलावें। अंत में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि प्रारब्ध कर्म से बचने का यही एक मात्र उपाय है। ऐसे पुरुष को न दुनिया के सुख दुख सताते हैं और न स्वर्ग, नरक के पाप पुण्यों का खटका रहता है। एकदम अलख निरंजन !

श्लोक ९०

पाणि पात्रयतां निसर्गशुचिना भैक्ष्येण संतुष्यताम्
यत्र क्वऽपि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम्
अत्यागेऽपि तनोरखण्डपरमानन्दावबोधस्पृशा–
मध्वा कोऽपि शिवप्रसादसुलभः संपत्स्यते योगिनाम् ।

पदच्छेद

क्वऽपि + क्वा + अपि
अत्यागेऽपि = अत्यागे + अपि
परमानन्दावबोध = परम + आनन्द + अवबोध
स्पृशामध्वा = स्पृशाम् + अध्वा
कोऽपि = कः + अपि

पदान्वय

पाणि पात्रयताम् निसर्ग शुचिना भैक्षेण संतुष्यताम्
यत्र क्वा अपि निषीदताम् मुहुः विश्वम् बहुतृणम् पश्यताम्
तनोः अत्यागे अपि अखण्ड परम आनन्द अवबोध स्पृशाम्
योगिनाम् शिव प्रसाद सुलभः कः अपि अध्वा सम्पत्स्यते

शब्दार्थ

पाणि पात्रयताम्	= अंजुली ही जिन का बरतन हो	विश्वम्	= संसार को
निसर्ग शुचिना	= स्वभाव से ही पवित्र हों	बहु तृणम्	= एकदम तिनके के समान
भैक्ष्येण	= भिक्षा भोजन से	पश्यताम्	= देखते हों
संतुष्यताम्	= संतोष करते हों	तनोः अत्यागे अपि	= शरीर के न छूटने पर भी अर्थात् इसी जीवन में
यत्र क्वा अपि	= कहीं भी		
निषीदताम्	= बैठते हों	अखण्ड परमानन्द	= सदा परम आनन्द को
मुहुः	= सदा		

अवबोध स्पृशाम्	=अनुभव करते हों, इस प्रकार	कः अपि अध्वा	= (मुक्ति का मार्ग) कोई भी मार्ग
योगिनाम्	= योगियों को	सम्पत्स्यते	= मिल जाता है
शिवप्रसाद सुलभः	=शिवजी कीकृपा से प्राप्त होनेवाला		

भावार्थ

बिना मांगे जो कुछ पा जाएँ हथेली पर ही खा पी डालते हों और तृप्त हो जाते हों, नहीं एक जगह बैठ जाते हों और संसार के सारे वैभवों को तिनके के समान तुच्छ समझते हों, ऐसे विरले योगी महात्मा को ईश्वर की कृपा से इसी जीवन में परमानन्द का अनुभव होता है। अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

विशेषार्थ

जैसा पहले कहा जा चुका है, यह पहले श्लोक का ही विस्तार है। फिर भी श्लोक के अन्तिम दो पदों पर विचार कर लेना उचित है। शरीर धारण करते हुए अखण्ड आनन्द को प्राप्त होना, ईश्वर की कृपा से कोई न कोई उपाय निकल आना, यह दो अलग-अलग हैं। पहली का अभिप्राय यह हो सकता हैं कि दूसरे मार्ग से अर्थात् निवृत्ति तथा वनवास से इसी जीवन में आनन्द की प्राप्ति नहीं भी हो सकती है, भले ही इस जीवन के बाद हो।' मगर इस मार्ग में अर्थात् समाज के बीच निरपेक्ष जीवन बिताने से इसी जीवन में उस परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। आगे दूसरी बात में विश्वास दिलाया गया है कि अगर परमानन्द का अनुभव न होवे तो भी उससे घबराने की बात नहीं है। कभी न कभी कोई न कोई उपाय निकल ही आवेगा। कब क्या होगा, क्या न होगा, यह ईश्वर के अधीन है। इसलिए मनुष्य को अनवरत उद्योग करते ही रहना चाहिए।

नवम दशक का सारांश

श्लोक नं. ८१ – मन का निग्रह महा कठिन है ।
८२ – मन का निग्रह कैसे होगा, यह नहीं कहा जासकता ।
८३ – मनुष्य के प्रयत्नों का फलना ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है ।
८४ – शिव और विष्णु अर्थात् भोग और त्याग में कोई भेद नहीं है ।
८५ – संसारिक प्रवृत्ति को त्याग दें ।
८६ – सम्पत्ति को लोगों में बांट दें ।
८७ – काशी में रहें और भिक्षा से पेट भरें ।
८८ – निर्जन वनों में धूनो रमावें ।
८९ – अनासक्त वृत्ति के साथ समाज के बीच में रहें ।
९० – अन्त में ईश्वर की कृपा से कोई न कोई तरुणोपाय निकल ही आवेगा ।

इस प्रकार अन्त में उस आत्मानन्द की स्थिति को प्राप्त होने के बाद मनुष्य जिस अवधूत स्थिति को प्राप्त होता है, उसकी चर्चा अगले अन्तिम दशक में है ।

श्लोक ९१

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी
नैश्चिन्त्यं निरपेक्षभैक्ष्यमशनं निद्रा श्मशाने वने
स्वातंत्र्येण निरंकुशं विहरणं स्वातं प्रशान्तं सदा
स्थैर्यं योगमहोत्सवेऽपि च यदि त्रैलोक्यराज्येन किम् ।

पदच्छेद

पुनस्तादृशी = पुनः + तादृशी
निरपेक्ष = निः + अपेक्ष
भैक्ष्यमशनम् = भैक्ष्यम् + अशनम्
महोत्सवेऽपि = महा + उत्सवे + अपि

पदान्वय

यदि शतखण्ड जर्जरतरम् कौपीनम्, पुनः तादृशी कन्था नैश्चिन्त्यम् निरपेक्ष भैक्ष्यम् अशनम् श्मशाने वने निद्रा स्वातंत्र्येण निरंकुशम् विहरणम् सदा प्रशान्तम् स्वांतम् योग महोत्सवे स्थैर्य अपि त्रैलोक्य राज्येन किम

शब्दार्थ

शत खण्ड = सैंकडों चीथडों की
जर्जर तरम् = एकदम फटी
कौपीनम् = लंगोटी (हो)
पुनः = फिर
तादृशी = उसी तरह की
कन्था = कथरी हो,
नैश्चिन्त्यम् = बेफिकरी हो,
निरपेक्ष = बिना मांगे
भैक्ष्यम अशनम = जो भिक्षा मिलजाय उसी को खालें,
श्मशाने वने = मसान घाट में या वन में
निद्रा = सोया करें
स्वातंत्र्येण = बे रोकटोक
विहरणम् = विचरा करें (और)
सदा = हर दम
प्राशान्तम् स्वांतम् = चित्त शान्त तथा प्रसन्न हो
योगमहोत्सवे अपि = योग के महान उत्सव में भी
स्थैर्यम् यदि = यदि चित्त स्थिर हो (तो)
त्रैलोक्य राज्येन किम् = तीनों लोकों के राज्य किसलिए? अर्थात् उसके सामने तीनों लोकों का आधिपत्य भी तुच्छ है।

भावार्थ

फटी लंगोटी हो, वैसी ही फटी पुरानी गुदडी हो, एकदप वे फिक्री हो, जो मिले खावें और जहां चाहें पडे रहें, जहां चाहें विचरें, कोई रोक टोक नहीं, सदा प्रसन्न चित्त रहें, यदि ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाएँ तो उसके सामने तीनों लोकों का साम्राज्य भी निरर्थक है।

विशेषार्थ

पिछले दशक मे शिव-पूजन की चर्चा करने के बाद अंत में कहा गया था कि जीवन्मुक्ति ही मनुष्य मात्र का उद्देश्य है। इस दशकमें उसी जीवन्मुक्ति की चर्चा के साथ वैराग्य शतक और साथ ही भर्तृहरि के तीनों शतकों की समाप्ति होती है।

श्लोक में दो बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं। योग समाधि तक की एक स्थिति है और सुख भोग की दूसरी स्थिति। पहले को श्रेष्ट और दूसरे को निकृष्ट बताया गया है। किंतु सच तो यह है कि लंगोटी या त्रैलोक्य राज्य से कोई मतलब नहीं है। असली उद्देश्य है चित्त की शान्ति तथा स्थिरता। निरपेक्ष भोजन, वन-मसान का रहन सहन, बे रोक विचरण, यह सब स्थिर-चित्त के लक्षण हैं। चित्त की स्थिरता के बाद भले ही लंगोटी फटी हो, खाने रहने का ठिकाना न हो, फिर भी वह तीनों लोकों को भी तुच्छ समझेगा अर्तात् सांसारिक सुख ही नहीं, स्वर्गीय सुख की भी उसे इच्छा नही होगी। तीनों लोकों में स्वर्ग भी तो शामिल है। संसार की सकल सुख-सामग्री के होते हुए भी यह तो संम्भव ही है कि मन को शान्ति प्राप्त न हो। स्वर्गीय सुख में भी स्थिरता नहीं है, क्यों कि वहाँ पुण्य के क्षीण हो जाने का भय लगा रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि सच्ची शान्ति इसी जीवन में ही प्राप्त हो सकती हे।

श्लोक १२

ब्रह्माण्डमण्डलीमात्रं किं लोभाय मनस्विनः
शफरी स्फुरितेनाब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते ।

पदच्छेद

स्फुरितेनाब्धिः = स्फुरितेन + अब्धिः

पदान्वय

मनस्विनः ब्रह्माड मण्डली मात्रम् लोभाय किम्
शफरी स्फुरितेन अब्धिः क्षुब्धः न जायते खलु

शब्दार्थ

मनस्विनः	= आत्मवान पुरुष को, योगी को	शफरी	= एक छोटी मछली के
ब्रह्माण्ड मण्डली मात्रम्	= सकल ब्रह्माण्ड मंडल भी	स्फुरितेन	= फुदकने से
		अब्धिः	= समुद्र
लोभाय किम्	= क्या लोभ उत्पन्न कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते	क्षुब्धः	= आकुल
		न जायते	= नहीं होना

भावार्थ

जिस प्रकार एक छोटी-सी मछली के फुदक पडने से समुद्र के जल में खलबली नहीं हो सकती उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भर के लोभ से भी योगी की स्थिरता नहीं टूट सकती ।

विशेषार्थ

योगी का मन कितना स्थिर होना चाहिए, यही इसमें बताया गया है । पिछले श्लोक में तीनों लोकों का राज्य कहा था, यहां कहता है कि सारे ब्रह्माण्ड का आधिपत्य भी तुच्छ है यह स्थिति स्वयं परब्रह्म परमात्मा की होकनी है। कदाचित् अवधूत उस दशा को प्राप्त होजाता है ।

नोट :– उस अगोचर परमात्मा को समझने से भी इस जीते जागते अवधूत को सनझना शायद अधिक कठिन है । इसी लिए आगे के श्लोकों पर विशेषार्थ नहीं दिया गया है । सोलह वर्ष पहले की पांडुलिपि में यही ठीक लगा था। अब पुस्तक के प्रेस में छपते हुए भी यही ठीक जचता है ।

श्लोक ९३

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मास्मभूः
भोगेषु स्पृहयालवस्तव वशे का निःस्पृहाणामसि
सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिका पात्रे पवित्रीकृतै-
र्भिक्षावस्तुभिरेव संप्रति वयं वृत्तिं समीहामहे।

पदच्छेद

मातर्लक्ष्मि = मातः + लक्ष्मि
कञ्चिदपरम = कञ्चित् + अपरम्
मास्मभूर्भोगेषु = मास्मभूः + भोगेषु
स्पृहयालवस्तव = स्पृहयालवः + तव
निस्पृहाणामसि = निस्पृहाणाम् + असि
पवित्रीकृतैर्भिक्षा = पवित्री कृतैः + भिक्षा
वस्तुभिरेव = वस्तुभिः + एव

पदान्वय

मातः लक्ष्मि कञ्चित् अपरम् भजस्व मत्कांक्षिणी मास्मभूः भोगेषु स्पृहयालवः तव वशे निस्पृहाणाम् का असि सद्यः स्यूत पलाश पत्र पुटिका पात्रे पवित्री कृतैः भिक्षा वस्तुभिः एव वयम् सम्प्रति वृत्तिम् समीहामहे

शब्दार्थ

मातः लक्ष्मि	=	हे माता लक्ष्मी
कञ्चित् अपरम्	=	किसी और के
भजस्व	=	शरण में जा
मत् कांक्षिणी	=	मेरी इच्छुक
मास्मभूः	=	मत बन
भोगेषु	=	सुख भोग में
स्पृहयालवः	=	मन रखने वाले
तव वशे	=	तेरे बस में हो जाते हैं
निस्पृहाणाम्	=	उदासियों के लिए (तू)

का अस्ति = कौन होती है (तेरा मुझसे कोई वास्ता नहीं)
वयम् = हम
सम्प्रति = अब
सद्यः स्यूत = तुरंत सिये हुए
पलाश पत्र = ढाक के पत्तों के
पुटिका पात्रे = दोने में
पवित्री कृतैः = पवित्र किये हुए (पाप रहित)
भिक्षान्न वस्तुभिः एव = भिक्षा की वस्तुओं में ही
वृत्तिम् = जीविका
समीहामहे = पसंद करते हैं

भावार्थ

हे माता लक्ष्मी, तू अब मेरी आशा छोड दे, किसी दूसरे को ढूंड ले। जो भोगी हैं वही तेरे चक्कर में आ सकते हैं। हम त्यागियों से तेरा क्या काम? अब तो हम ताजे पत्तों का दोना बना कर उसी में पवित्र भिक्षा पाया करेंगे और निश्चिन्त जीवन बितावेंगे।

श्लोक ९४

महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ।

पदच्छेद

विपुलमुपधानम् = विपुलम् + उपधानम्
वितानंचाकाशम् = वितानम् + च + आकाशम्
व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः = व्यजनम् + अनुकूलः + अयम् + अनिलः
स्फुरद्दीपश्चन्द्रः = स्फुरत् + दीपः + चन्द्रः
मुनिरतनुभूतिर्नृप = मुनिः + अतनुभूतिः + नृप

पदान्वय

पृथ्वी महाशय्या भुजलता विपुलम् उपधानम् आकाशं च वितानम् अयम् अनुकूल: अनिल: व्यजनम् चन्द्र: स्फुरत् दीप विरति वनिता संग मुदित: शान्त: मुनि अतनुभूति: नृप इव सुखम् शेते

शब्दार्थ

पृथ्वी	= भूमि	व्यजनम्	= पंखा है,
महा शय्या	= बड़ा बिस्तर है,	चन्द्र:	= चन्द्रमा
भुज लता	= फैली हुई भुजाएं	स्फुरत् दीप:	= जगमगाती दिया है
विपुलम्	= विशाल	विरतिवनितासंग	= वैराग्य रूपी रमणी के संग से
उपधानम्	= तकिया है,	मुदित:	= प्रसन्न (और)
आकाशं च वितानम्	= आकाश ही शामियाना है,	शान्त:	= शान्त हैं,
अयम्	= यह	अतनुभूति:	= अखण्ड वैभवशाली
अनुकूल:	= मन भाती	नृप इव	= महानराजाओं के समान
अनिल:	= हवा	सुखी शेते	= सुख से सोते हैं।

भावार्थ

योगी के लिए जमीन ही गद्दा है, आस्मान ही शामियना है, हाथ ही उसका तकिया है, मंद मंद वायु ही उसका पंखा है, वैराग्य ही उसकी वनिता है, इस प्रकार वह सब कुछ त्याग कर ऐसा आनंद मानता है मानो कोई चक्रवर्ती राजा है।

श्लोक ९५

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा
हानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनैः संप्राप्तकन्थासनो
निर्मानोनिरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ।

पदच्छेद

भिक्षाशी = भिक्षा + अशी
हानादान = हान + आदान
कश्चित्तपस्वी = कश्चित् + तपस्वी
निर्मान = निः + मान
निरहंकृति = निः + अहंकृति
सुखाभोगैक = सुख + आभोग + एक
कन्थासनः = कन्था + आसनः

पदान्वय

भिक्षा अशी जन मध्य संग रहितः सदा स्वायत्त चेष्टः हान आदान विरक्त मार्ग निरतः रथ्या कीर्ण विशीर्ण जीर्ण वसनैः सम्प्राप्त कन्था आसनः, निर्मानः, निरहंकृतिः शाम सुख आभोग एक बद्ध स्पृहः, कश्चित् तपस्वी स्थितः

शब्दार्थ

भिक्षा अशी	= भिक्षा पर निर्वाह कर लेता हो,	सदा स्वायत्त चेष्टः	= हमेशा अपनी ही इच्छा पर चलता हो,
जन मध्य	= लोगों के बीच (रहकर भी)	हान	= (बुरेको) त्यागने
		आदान	= (भले को) अपनाने में
संग रहितः	= किसी में आसक्त न हो,	विरक्त निरतः	= उदासीन हो,
		रथ्या	= रास्तों, सड़कों पर

कीर्ण	= फिके	शम सुख	= मनकी शांति से प्राप्त सुख को
वशीर्ण	= फटे	आभोग	= भोगने में
जीर्ण	= पुराने	एक बद्ध स्पृहः	= एकदम मन लगा हो
वसनैः	= कपडों से	कश्चित्	= ऐसा कोई बिरला ही
सम्प्राप्त कन्था आसनः	} आसन तथा गुदडी बना ली हो,	तपस्वी स्थितः	= तपस्वी होता है
निर्मान	= अभिमान रहित		
निरहंकृति	= अहंकार रहित		

भावार्थ

भिक्षा पर निर्वाह करे, लोगों के बीच में रहे मगर किसी से कोई मतलब न रखे, न किसी वस्तु के त्यागने में संकोच करे, न किसी के प्राप्त करने की इच्छा रखे, जहां तहां पडे हुए फटे पुराने कपडों की गुदडी बना उसी में गुजारा करे, मान अभिमान का विचार न हो और मन सदा शांत हो, किसी महान तपस्वी की ही ऐसी स्थिति हो सकती है।

श्लोक ९६

चण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै-
र्नकुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः।

पदच्छेद

किमयम् = किम् + अयम्
द्विजातिरथवा = द्वि जातिः + अथवा
शूद्रोऽथ = शूद्रः + अथ
पेशलमतिर्योगी = पेशलमतिः + योगी
कोऽपि = कः + अपि
इत्युत्पन्न = इति + उत्पन्न
जल्पमुखरैराभाष्यमाणा = जल्प मुखरैः + आभाष्यमाणा
जनैर्नक्रुद्धाः = जनैः + न क्रुद्धाः
नैव = न + एव

पदान्वय

अयम् चण्डालः किम् अथवा द्विजातिः अथ शूद्रः किम् तापसः किम् वा तत्व निवेश पेशलमतिः कः अपि योगीश्वरः इति उत्पन्न विकल्प जल्प मुखरैः जनैः पथि आभाष्यभाणाः न क्रुद्धाः न एव संतुष्ट मनसः योगिनः स्वयम् यान्ति

शब्दार्थ

अयम् चण्डाल किम्	=	क्या यह मनुष्य चंडाल है ?
अथवा द्विजातिः	=	या ब्राह्मण हे
अथ शूद्रः	=	या शूद्र
किम् तापसः	=	या तपस्वी है
किं वा	=	या क्या
तत्व निवेश पेशल मतिः	}	तत्वज्ञान में पटु
को आपि योगीश्वरः	=	कोई योगी राज हैं
इति	=	इस प्रकार
उत्पन्न	=	निकलती हुई
विकल्प जल्प	=	तरह तरह की बातें
मुखरैः जनैः	=	कहने वाले लोगों द्वारा
पथि	=	सड़क पर
आभाष्यमाणाः	=	उल्टे सीधे कहे जाने पर भी
योगिनः	=	योगी जन
न क्रुद्धाः	=	नाराज न हो कर
न एव संतुष्ट मनसः	=	और न प्रसन्न होकर
स्वयम् यान्ति	=	अपनी राह चलते हैं

भावार्थ

किसी योगी महात्मा को देख कर लोग तरह तरह की बातें करते हैं। कोई कहता है यह चंडाल है। कोई दूसरा कहता है शूद्र है। कोई तीसरा कहता है तपस्वी है। कोई चौथा कहता है पहुंचा हुआ फकीर या ब्रह्मज्ञानी है। कोई अच्छा कहे या बुरा, जो योगी हैं वे इन बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं देते, बल्कि अपनी ही राह पर बेखटके बढ़ते रहते हैं।

श्लोक १७

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं
व्यालानां पशवस्तृणांकुरभुजस्सृष्टाः स्थलीशायिनः
संसारार्णवलंघनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां
तामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः।

पदच्छेद

लभ्यमशनम् = लभ्यम् + अशनम्
पशवस्तृणांकुरः = पशवः + तृण + अंकुरः
भुजस्सृष्टाः = भुजः + सृष्टाः
संसारार्णव = संसार + अर्णव
तामन्वेषयताम् = ताम् + अन्वेषयताम्

पदान्वय

व्यालानम् धात्रा हिंसा शून्यम् अयत्न लभ्यम् अशनम् मरुत् कल्पितम्
पशवः तृण अंकर भुजः स्थली शायिनः सृष्टाः
संसार अर्णव लंघन क्षम धियाम् नृणाम् सा वृत्तिः कृता
ताम् सततम् अन्वेषयताम् सर्वे गुणाः समाप्तिम् प्रयान्ति

शब्दार्थ

व्यालानाम्	=	सापों के लिए
धात्रा	=	ब्रह्मा द्वारा
हिंसा शून्यम्	=	हिंसा से खाली
अयत्न लभ्यम्	=	बिना परिश्रम के मिलने वाला
अशनम्	=	आहार
मरुत्	=	हवा
कल्पितम्	=	बनाई गयी,
पशवः	=	पशुओं को
तृण अंकुर भुजः	=	घास तिनके खाने वाले (और)
स्थली शायिनः	=	जमीन पर सोने वाले
सृष्टाः	=	बनाया गया,
संसार अर्णव	=	संसार रूपी सागर के
लंघन	=	पार उतरने में
क्षम धियाम्	=	समर्थ बुद्धिमान
नृणाम्	=	मनुष्यों के लिए
सा वृत्तिः	=	उसी योग्य जीविका
कृता	=	बनायी गयी है,
ताम्	=	उस वृत्ति की
सततम्	=	सदा
अन्वेषयताम्	=	खोज करने वालों के
सर्वे गुणाः	=	सभी सत्वरजस्त-गुण
समाप्तिं प्रयान्ति	=	समाप्त हो जाते हैं

भावार्थ

ब्रह्मा ने सांप जैसे घातक जन्तु के लिए भी हवा का आहार बनाया, जिसके लिए न किसीको उसे डसना पड़ता है और न कहीं जाकर परिश्रम करना पड़ता है। इसी प्रकार पशुओं के लिए उसने हरी हरी घास बना दी, जिसे वे खाते और जिसपर वे जहां जी चाहा पड़े रहते हैं। जब नीच योनियों के आहार विहार की इतनी पवित्र व्यवस्था है तब मनुष्य के लिए तो अवश्य ही ऐसे ही किसी आहार की व्यवस्था होगी। इसलिए मनुष्य को ऐसे आहार विहार की खोज में रहना चाहिए जिससे वह गुणातीत हो जाए।

श्लोक ९८

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वांगमंगे मदीये।

पदच्छेद

ब्रह्मध्यानाभ्यसन = ब्रह्मध्यान + अभ्यसन
तैर्भाव्यम् = तैः + भाव्यम्
सुदिवसैर्यत्र = सुदिवसैः + यत्र
स्वांगमंगे = स्व + अंगम् + अंगे

पदान्वय

गंगा तीरे हिमगिरि शिला बद्ध पद्मासनस्य
ब्रह्म ध्यान अभ्यसन विधिना योग निद्राम् गतस्य
मम तैः दिवसैः भाव्यम् किम्, यत्र जरठ हरिणाः
निर्विशंकाः स्वअंगम् मदीय अंगे कण्डूयन्ते

शब्दार्थ

गंगा तीरे	=	गंगाजी के तट पर
हिमगिर शिला	=	हिमालय पर्वत की चट्टान पर
बद्ध पद्मासनस्य	=	पद्मासन डाले बैठे हुए
ब्रह्म ध्यान अभ्यसन विधिना		ब्रह्मध्यान की साधना से
योग निद्राम् गतस्य	=	योग समाधि की अवस्था में पहुँचे हुए
मम	=	मुझे
तैः दिवसैः	=	वह दिन
भाव्यं किम्	=	क्या प्राप्त हो सकेंगे ?
यत्र	=	जहां, जब
जरठ हरिणाः	=	बूढ़े हिरन
निर्विशंकाः	=	बे खटके
स्व अंगम्	=	अपने शरीर को
मदीय अंगे	=	मेरी देह से
कण्डूयन्ते	=	खजुलाते हों, रगड़ते हों।

भावार्थ

क्या वह सुदिन कभी आवेगा जब मैं हिमालय पर्वत पर गंगाजी के किनारे किसी चट्टान पर पद्मासन लगाये योग–समाधि को प्राप्त हो जाऊंगा और वह समाधि इतिनी गाढी होगी कि जंगली हिरन मुझे निर्जीव जान कर अपनी देह को मेरी देह से रगड़ रगड़ कर खजुलाया करेंगे ।

श्लोक ९९

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्ष्यमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमपमलम् तल्पमस्वल्पमुर्वी
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वात्मसंतोषिणस्ते
धन्याः सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ।

पदच्छेद

भैक्षमक्षय्यमन्नम् = भैक्षम् + अक्षय्यम् + अन्नम्
वस्त्रमाशादशकमपमलम् = वस्त्रम् + आशादशकम् + अपमलम्
तल्पमस्वल्पमुर्वी = तल्पम् + अस्वल्पम् + उर्वी
निस्संगतांगीकरण = निस्संगत + अंगीकरण
स्वात्म्य = स्व + आत्म
संतोषिणस्ते = संतोषिणः + ते

पदान्वय

पाणिः पवित्रम् पात्रम् भ्रमण परिगतम् भैक्षम् अक्षय्यम् अन्नम् आशा दशकम् अपमलम् विस्तीर्णम् वस्त्रम् उर्वी अस्वल्पम् तल्पम् येषाम् निसंगत अंगीकरण परिणत स्वात्म संतोषिणः सन्यस्त दैन्य व्यतिकर निकराः ते धन्याः कर्म निर्मूलयन्ति

शब्दार्थ

पाणि:	=	हथेली
पवित्रम् पात्रम्	=	पवित्र पात्र है,
भ्रमण परिगतम्	=	घूम घूम कर पायी हुई
भैक्षम	=	भिक्षा
अक्षय्यम् अन्नम्	=	कभी न खत्म होने वाला अन्न है
आशा दशकम्	=	दशों दिशाएं
अपमलम्	=	निर्मल
विस्तीर्णम्	=	लम्बा चौड़ा
वस्त्रम्	=	ओढना (है)
उर्वी	=	भूमि
अस्वल्पम्	=	बड़ा
तल्पम्	=	बिछौना है
येषाम्	=	जिन्हें (जो)
निःसंगत अंगीकरण	=	अनासक्ति के अपनाने से
परिणत स्वान्त	=	परिपक्व हृदन या विचारों के कारण
संतोषिण:	=	(सदा एक भाव से) प्रसन्न रहते हैं
दैन्य	=	दीनता के
व्यतिकर निकरा:	=	समस्त सम्बन्ध
सन्यस्त	=	छूटे हुए हैं (ऐसे)
ते धन्या:	=	वह धन्य पुरुष
कर्म निर्मूलयन्ति	=	कर्म को विनष्ट करदेते हैं

भावार्थ

हथेली ही जिनकी लोटा थाली है, यानी खाना उसी में पाते हैं और पानी उसी से पीतें है, दिशायें ही जिनका ओढना है यानी जो नंगे रहते हैं, विस्तर के नाम की कोई वस्तु उनके पास नहीं, जमीन पर ही सो जाते हैं और जो संसार के सब सम्बन्ध तोड़ कर उदासीन भाव से रहतें सहते हैं, ऐसे महात्मा संसार के सभी कर्मों से छुटकारा पा जाते हैं ।

श्लोक १००

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जलं
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामंत्यः प्रणामाञ्जलिः
यु ष्म त्सं ग व शो प जा त सु कृ त स्फा र स्फु रन्निर्मल
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ।

पदच्छेद

मातर्मेदिनि = मातः + मेदिनि
भ्रातर्व्योम = भ्रातः + व्योम
भवतामन्त्यः = भवताम् + अन्त्यः
प्रणामाञ्जलिः = प्रणाम + अञ्जलिः
युष्मत्संगवशोपजात = युष्मत् + संग वश + उपजात
स्फुरन्निर्मल = स्फुरत् + निर्मल
ज्ञानापास्त = ज्ञान + अपास्त

पदान्वय

मातः मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धुः जलम्
भ्रातः व्योम भवताम् एषः अन्त्यः प्रणामः अञ्जलि निबद्धः
युष्मत् संग वशः उपजात-सुकृत् स्फार स्फुरत् निर्मल ज्ञान
अपास्त समस्त मोह महिमा परब्रह्मणि लीये

शब्दार्थ

मातः मेदिनी	= हे मेरी माता पृथ्वी	सुबन्धुः जलम्	= प्यारे बन्धु जल
		भ्राता व्योम	= हे भाई आकाश
तात मारुत	= हे पिता वायुदेव	भवताम्	= तुम लोगों को
सखे तेजः	= हे साथी अग्निदेव	एषः	= ये ही

अन्त्य प्रणत्म	=	अंतिम प्रणाम है
अञ्जलि निबद्धः	=	हाथ जोडे लेता हूँ
युष्मत्	=	तुम लोगों के
संग वशः	=	संगति के कारण
उपजात	=	उपजे
सुकृत	=	पुण्य फल से
स्फार स्फुरत्	=	खूब जगमगाते हुए
निर्मल ज्ञान	=	विशुद्ध ज्ञान द्वारा
अपास्त समस्त मोह महिमा	=	दूर किये गये सब अज्ञान के प्रभाव के साथ, (अर्थात् सारे अज्ञान धुल गये)
परब्रह्मणि लीये	=	पर ब्रह्म में लीन होजाता हूं

भावार्थ

हे पृथ्वी! तुम ही मेरी माता हो, वायु, तुम पिता हो, अग्नि, तुम साथी हो, आकाश, तुम भाई हो, तुम सब को अन्तिम प्रणाम के साथ यह हाथ जोडे लेता हूं। तुम ही लोगों की संगति से मेरा सारा अज्ञान नष्ट हुआ और ज्ञान का उदय हुआ और उसी ज्ञान की महिमा से ये लो मैं उस परब्रह्म परमात्मा में लीन हुआ जाता हूँ।

समाप्तम्

श्लोकानुक्रमणिका

—:o:—